विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ९ सितम्बर २००३
मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ११

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

श्रीरामकृष्ण – ''जीव चार प्रकार के होते हैं। बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य। नारदादि नित्यजीव हैं। ऐसे जीव औरों के हित के लिए उन्हें शिक्षा देने के लिए संसार में रहते हैं। बद्ध जीव विषय में फँसा रहता है। वह ईश्वर को भूल जाता है, भगवच्चिन्तन वह कभी नहीं करता। मुमुक्षु जीव वह है जो मुक्ति की इच्छा रखता है। मुमुक्षुओं में से कोई कोई मुक्त हो जाते हैं, कोई कोई नहीं हो सकते। मुक्त जीव संसार के कामिनी-कांचन में नहीं फँसते, जैसे साधु-महात्मा। इनके मन में विषय-बुद्धि नहीं रहती। ये सदा ईश्वर के ही पादपद्मों की चिन्ता करते हैं।

''जब जाल तालाब में फेंका जाता है, तब जो दो-चार होशियार मछलियाँ होती हैं, वे जाल में नहीं आतीं। यह नित्य जीवों की उपमा है। किन्तु अनेक मछलियाँ जाल में फँस जाती हैं। इनमें से कुछ निकल भागने की भी चेष्टा करती हैं। यह मुमुक्षुओ की उपमा है। परन्तु सब मछलियाँ नहीं भाग सकतीं। केवल दो चार उछल-उछलकर जाल से बाहर हो जाती हैं। तब मछुआ कहता है, अरे एक बड़ी मछली बह गयी। किन्तु जो जाल में पड़ी हैं, उनमें से अधिकांश मछलियाँ निकल नहीं सकतीं। वे भागने की चेष्टा भी नहीं करतीं, जाल को मुँह में दबाकर मिट्टी के नीचे सिर घुसेड़कर चुपचाप पड़ी रहती हैं और सोचती हैं, अब कोई भय की बात नहीं, बड़े आनन्द में हैं। पर वे नहीं जानतीं कि मछुआ घसीटकर उन्हें ले जाएगा। यह बद्ध जीवों की उपमा है।

नीति-शतकम्

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह! कष्टमपण्डितता विधेः ।।९२।।

अन्वयः – अशेषगुणाकरं भुवः अलंकरणं पुरुषरत्नं सृजति तत् अपि तत्क्षणभङ्गि चेत् करोति, अहह ! विधेः अपण्डितता कष्टम् ।

भावार्थ – अहा ! यह कितने कष्ट की बात है ! इसमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की कैसी निर्बुद्धिता है, जो पहले तो सारे गुणों की खान तथा पृथ्वी के आभूषण-स्वरूप नररत्नों को पैदा करते हैं और फिर उन्हीं के जीवन को क्षणभंगुर बना देते हैं।

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ।।९३।।

अन्वयः – यदा करीरविटपे पत्रं न एव, वसन्तस्य दोषः किम्? यदि उलूकः दिवा अपि न अवलोकते, सूर्यस्य दूषणम् किम् ? चातकमुखे धारा न एव पतन्ति, मेघस्य दूषणं किम्? विधिना पूर्वं यत् ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः?

भावार्थ – यदि करील के वृक्ष में पत्ते नहीं आते तो इसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष है? यदि उल्लू दिन में नहीं देख पाता तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? यदि वर्षा के जल की बूँदें चातक के मुख में नहीं पड़तीं तो इसमें बादल का क्या दोष है? ब्रह्माजी ने जिसके ललाट पर (भाग्य में) जो कुछ लिख दिया है उसे भला कौन मिटा सकता है?

– भर्तृहरि

आत्म-प्रबोध

– १ –

(नन्द-कहरवा)

अजब है इस दुनिया की रीत
स्वारथ के सब नाते जोड़े, नाम दिया है प्रीत ।। अजब.।।

क्षणभंगुर इस जग की माया, पर नर इसमें ही भरमाया,
ममता में पड़कर निष्फल हो,
होती आयु व्यतीत ।। अजब.।।

दुर्लभ मानव-जीवन पाया, ढूँढ़ रहा पर कंचन-काया,
आकर मौत खड़ी होती जब,
होता है भयभीत ।। अजब.।।

पंचभूत भव को घर माना, बिसर गया निज परम ठिकाना,
विषयों में फँसकर खो बैठे,
चिर-जीवन का मीत ।। अजब.।।

संयत कर मन-काया-वाणी, अन्तर में झाँको हे प्राणी,
सदा-सर्वदा उठे जहाँ पर,
ध्वनि-अनहत संगीत ।। अजब.।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा-कहरवा)

देख ले मेरे मन, सोचकर एक क्षण,
इस जहाँ में कहीं भी न सुख-शान्ति है ।।

छोड़कर मोह-मद, ध्यान कर उनके पद,
शेष सब कुछ यहाँ भ्रान्ति ही भ्रान्ति है ।। देख.।।

दौड़कर तू थका, सुख कहाँ मिल सका,
सिर्फ उनके भजन में ही विश्रान्ति है ।। देख.।।

हृदि कमल को खिला, अपने प्रभु को बुला,
प्रभु के श्रीरूप की क्या मधुर कान्ति है ।। देख.।।

– *विदेह*

गीता की महिमा

स्वामी विवेकानन्द

गीता तो छोटे के अन्दर महान् को देखने की शिक्षा देती है। धन्य है वह ग्रन्थ ! गीता का केन्द्रीय भाव यह है, निरन्तर कर्म करते रहो, परन्तु उसमें आसक्त मत होओ।

यह वेदान्त-दर्शन का मानो एक सर्वश्रेष्ठ भाष्य है। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस दर्शन का केन्द्र है युद्धभूमि, जहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसका उपदेश दिया और **गीता के हर पृष्ठ पर जो मत जाज्वल्यमान है, वह है तीव्र कर्मण्यता, पर उसी के बीच अनन्त शान्तभाव**। इसी तत्त्व को कर्म-रहस्य कहा गया है और इसी को पाना वेदान्त का लक्ष्य है।

हम दीपक के प्रकाश में गीता का पाठ कर रहे हैं, परन्तु इसी से अनेक कीट-पतंग जलकर मरते जा रहे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म में कुछ दोष रहता ही है। जो अपने क्षुद्र अहं-भाव भूलकर कार्य करते हैं, उन पर इन दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वे संसार की भलाई के लिए कर्म करते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर कार्य करने से हमें परम आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है।

सम्भव है भगवद्-गीता का द्वितीय अध्याय पढ़कर पाश्चात्य देशवालों में से बहुतों को आश्चर्य होता हो। क्योंकि उसमें शत्रुओं के रूप में अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को खड़ा देखने के कारण, अर्जुन द्वारा अहिंसा को प्रेम का सर्वोच्च आदर्श बताते हुए उनसे युद्ध करने से अस्वीकार करने पर श्रीकृष्ण ने उन्हें ढोंगी तथा डरपोक कहा है। हम सबके जानने योग्य यह एक महान् पाठ है कि सभी विषयों में दोनों चरम अवस्थाएँ एक सदृश होती हैं। चरम अस्ति और चरम नास्ति दोनों सदैव एक समान होते हैं। ... अपने विपक्ष में शक्तिशाली सेना को खड़ी देखकर अर्जुन कायर हो गया; उसके 'प्रेम' ने उसे अपने देश तथा राजा के प्रति अपने कर्तव्य को विस्मृत करा दिया। इसीलिए तो भगवान श्रीकृष्ण ने उससे कहा – "तू ढोंगी है, तू बातें तो एक ज्ञानी के जैसा करता है, पर तेरे कर्म कायरों जैसे हैं। इसलिए तू उठ, खड़ा हो और युद्ध कर।"

यही 'वैराग्य' है, इसी को कर्मयोग की नींव – 'अनासक्ति' कहते हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि अनासक्ति के बिना किसी भी प्रकार की योग-साधना नहीं हो सकती। अनासक्ति ही पूरे योग-साधना की नींव है। सम्भव है कि जिस व्यक्ति ने अपना घर छोड़ दिया है, अच्छे वस्त्र पहनना छोड़ दिया है, अच्छा भोजन करना छोड़ दिया है और जो मरुस्थल में जाकर रहने लगा है, वह भी एक घोर विषयासक्त व्यक्ति हो। उसकी एकमात्र सम्पत्ति उसका शरीर ही उसका सर्वस्व हो जाए और वह सतत उसी के सुख के लिए प्रयत्न करे।

गीता में हम बारम्बार पढ़ते हैं कि हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म स्वभावत: ही भले-बुरे से निर्मित होता है। हम कभी ऐसा कोई कर्म नहीं कर सकते, जिससे कहीं कुछ अच्छा न हो; और ऐसा भी कोई कर्म नहीं है, जिससे कहीं-न-कहीं कुछ बुराई न हो। **हर कर्म में अनिवार्य रूप से गुण-दोष का मिश्रण रहता है**। तथापि हमें सतत कर्म करते रहने का ही आदेश है। भलाई तथा बुराई – दोनों के अपने अलग अलग फल होंगे, वे भी कर्म की उत्पत्ति करेंगे। भले कर्मो का फल शुभ होगा और बुरे कर्मों का फल अशुभ। परन्तु शुभ और अशुभ दोनों ही आत्मा के लिए बन्धनस्वरूप हैं। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि यदि हम अपने कर्मों में आसक्त न हों, तो हमारी आत्मा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं पड़ सकता।

दु:ख का एकमात्र कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बँधते जा रहे हैं। इसीलिए गीता में कहा है – निरन्तर कर्म करते रहो, पर आसक्त मत होओ, बन्धन में मत पड़ो। हर वस्तु से स्वयं को स्वतंत्र बना लेने की शक्ति अपने में संचित रखो। कोई वस्तु तुम्हें कितनी भी प्रिय क्यों न हो, तुम्हारा प्राण उसके लिए कितना भी लालायित क्यों न होता हो, उसे त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट क्यों न उठाना पड़े, तो भी स्वेच्छया उसका त्याग करने की अपनी शक्ति सँजोये रहो।

तुम्हारे हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार है – केवल उसका अधिकार है, जो कभी बदलता नहीं। वह कौन है? – केवल ईश्वर। ... गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं – एकमात्र ईश्वर ही ऐसा है जो कभी नहीं बदलता। उसका स्नेह अनन्त और अपरिवर्तनशील है। हम कहीं भी रहें और कुछ भी करें, पर उस दयानिधि की दया में कोई अन्तर नहीं आता, उसके स्नेह की सरिता हमारे लिए सदैव एक ही प्रकार से प्रवाहित होती रहती है। उसमें कभी परिवर्तन नहीं आता। ... हमें उनसे प्रेम करना चाहिए और उन्हीं के माध्यम से सभी लोगों से प्रेम करना चाहिए। यही गीता की शिक्षा का सार है।

गीता कर्मयोग की शिक्षा देती है। हमें योग (एकाग्रता) के द्वारा कर्म करना चाहिए। इस प्रकार के कर्मयोग में क्षुद्र अहं-

भाव की चेतना नहीं रह जाती है। जब योगयुक्त होकर कार्य किया जाता है, तब मैं 'यह-वह' कर रहा हूँ – यह ध्यान ही नहीं रहता। पाश्चात्य लोग इसे समझ ही नहीं पाते। वे कहते हैं कि यदि अहंभाव न रहे, यदि अहं का नाश हो जाय, तो किसी मनुष्य के लिए कार्य करना भला कैसे सम्भव हो सकता है? पर **जो स्वयं को पूर्णतः भूलकर एकाग्र-चित्त से कार्य करता है, उसका कार्य निश्चय ही अनन्त-गुना अच्छा होता है और इसका अनुभव हर व्यक्ति ने अपने जीवन में किया होगा।** गीता की शिक्षा है कि सभी कार्यों को इसी तरह पूर्णता के साथ करना चाहिए। जो योग के द्वारा प्रभु से एकरूप हो गया है, वह अपने सभी कार्यों को इसी एकाग्रता के साथ करता है और अपने स्वार्थ की कुछ भी चाह नहीं रखता। इस प्रकार किए हुए कर्म द्वारा संसार की भलाई ही होती है, उससे किसी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। जो इस प्रकार कर्म करते हैं, वे अपने लिए कभी कुछ नहीं करते।

गीता में यदि कोई ऐसी बात है, जिसे मैं पसन्द करता हूँ, ये दो श्लोक हैं। कृष्ण के उपदेश के सारस्वरूप इन दो श्लोकों (१३/२७-२८) से बड़ा भारी बल प्राप्त होता है –

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।
समं पश्यन हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।

– विनाशशील सर्वभूतों में जो लोग अविनाशी परमात्मा को स्थित देखते हैं, वस्तुतः उन्हीं का देखना सार्थक है, क्योंकि वे ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से देखकर, आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, अतः वे परमगति को प्राप्त होते हैं।

भगवद्-गीता वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है।

गीता की मौलिकता किस बात में है, जिससे पूर्ववर्ती सभी शास्त्रों से वह विशिष्ट मानी जा सकती है? यद्यपि उसके प्रवर्तन के पूर्व योग, ज्ञान, भक्ति आदि सभी के दृढ़ अनुयायी थे, तथापि वे सब आपस में विवाद करते थे। हर कोई अपने चुने हुए मार्ग की श्रेष्ठता का दावा करता था। किसी ने कभी इन विभिन्न मार्गों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। गीता के रचयिता ने ही सर्वप्रथम उनमें समन्वय का प्रयास किया। तत्कालीन प्रचलित सभी धर्म-सम्प्रदायों के सर्वोत्तम तत्त्वों को उन्होंने लिया और गीता में सूत्रबद्ध कर दिया।

धर्म के विभिन्न मार्गों का समन्वय और निःस्पृह या निष्काम कर्म – ये गीता की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। २/३

– 'हे अर्जुन, कायर न बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़ युद्ध हेतु उठकर खड़े हो जाओ।'

यदि कोई यह एक श्लोक पढ़ता है, तो उसे सम्पूर्ण गीता-पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इस एक श्लोक में ही पूरी गीता का सन्देश निहित है।

अनेक लोगों का यह मत है कि गीता महाभारत के समय नहीं लिखी गई, बल्कि उसमें बाद में जोड़ दी गई है। यह बात ठीक नहीं है। गीता के प्रमुख सिद्धान्त महाभारत के हर भाग में मिलते हैं और यदि गीता को बाद में जोड़ी हुई मानकर निकाल लिया जाय, तो महाभारत के हर भाग में से वे अंश निकालने पड़ेंगे, जिनमें गीता के सिद्धान्त पाये जाते हैं।

श्रीकृष्ण के गीतोक्त उपदेशों के समान महान् उपदेश जगत् में अन्यत्र कहीं नहीं है। जिन्होंने इस अद्भुत काव्य की रचना की थी, वे उन विरले महात्माओं में से एक थे, जिनके जीवन द्वारा समग्र जगत् में नवजीवन की एक लहर दौड़ जाती है। जिन्होंने गीता लिखी है, उनके सदृश आश्चर्यजनक मस्तिष्क मनुष्य जाति और कभी नहीं देख पाएगी।

यह वेदों पर एक प्रकार का भाष्य है। यह बताती है कि आध्यात्मिक संग्राम इसी जीवन में लड़ा जाना चाहिए; अतः हमें उससे भागना नहीं चाहिए, वरन् उसे विवश करना चाहिए कि उसमें जो कुछ है, वह हमें प्रदान करे। चूँकि गीता उच्चतर वस्तुओं के लिए इस संघर्ष का प्रतीक है, इसलिए उसके दृश्य का रणक्षेत्र में प्रस्तुतीकरण अतीव काव्यमय हो गया है। विरोधी सेनाओं में से एक के नेता अर्जुन के सारथी के वेष में श्रीकृष्ण उन्हें दुःखी न होने और मृत्यु से अभयता की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वे वस्तुतः अमर है और मनुष्य के प्रकृत स्वरूप में किसी भी विकारशील वस्तु का स्थान नहीं है। अध्याय के बाद अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को दर्शन की उच्च शिक्षा प्रदान करते हैं। ये शिक्षाएँ ही इस काव्य को इतना अद्भुत बना देती है कि वस्तुतः समस्त वेदान्त-दर्शन ही उसमें समाविष्ट मिलता है।

❖ (क्रमशः) ❖
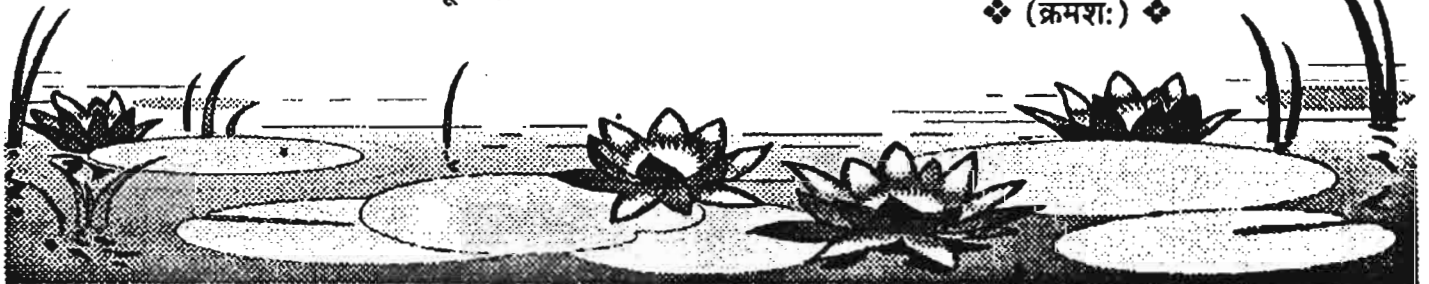
अंगद-चरित (१०/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरो पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके दसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे प्राध्यापक है। – सं.)

हमारे इस युग के अवतार भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी महाराज – जब दोनों के सम्बन्ध पर मैं दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे तो हर वस्तु रामायण की भाषा में ही दिखाई देती है। भगवान श्रीराम के साथ लक्ष्मण के व्यक्तित्व की वन्दना करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं – भगवान राम की निर्मल कीर्ति-रूपी जो पताका है, उसे लक्ष्मण जी दण्ड के समान धारण किए हुए हैं –

रघुपति कीरति बिमल पताका ।
दंड समान भयउ जस जाका ।। १/११७/६

ठीक वैसे ही इस युग में भी भगवान श्रीरामकृष्ण की कीर्ति-पताका स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा फहराई गई और वही तेजस्विता, वही ओज उनके व्यक्तित्व में परिलक्षित होता है, जो 'मानस' में लक्ष्मण जी के चरित में है। सचमुच उनके द्वारा जो एक सामंजस्य स्थापित किया गया – आत्महित का – 'स्वान्त:सुखाय' और लोकहित का 'सब कर हित होई' – इसका जो सूत्र 'मानस' में दिया गया है, वस्तुत: वही श्री रामकृष्ण मिशन के द्वारा चरितार्थ हो रहा है। मिशन के द्वारा विश्व में सेवाकार्य हो रहा है। यहाँ पर आपको आध्यात्मिक और आधिभौतिक – दोनों ही सेवाएँ प्राप्त हैं। ऐसे त्रिवेणी संगम पर श्री रामकथा की चर्चा करना अपने आपमें बड़े सौभाग्य की बात है। मेरी तो समझ में नहीं आता कि मैं आप लोगों को धन्यवाद दूँ या स्वयं को धन्य कहूँ। क्योंकि एक परम्परा यह भी है कि कथा के अन्त में वक्ता धन्यवाद देता है। पर वह धन्यवाद मैं केवल इस वाक्य के द्वारा ही दुहरा सकता हूँ, जो कागभुशुण्डी जी ने कथा के अन्त में कहा था – "मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ।" लगा कि यह तो अभिमान की वाणी है। कागभुशुंडि जी बोले – मैं अपने कागत्व से, अपनी दीनता से परिचित हूँ, पर मेरा कितना सौभाग्य है, प्रभु की कितनी अनुकम्पा है कि उन्होंने मुझे माध्यम बनाकर सत्संग का लाभ दिया, भगवत्कथा कहने का सौभाग्य दिया –

आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन ।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन ।। ७/१२३

यहाँ पर लोगों को उपस्थित देखता हूँ तो रामायण की वह बात याद आती है – शंकर जी ने कहा था – मैंने सुमेरु पर्वत पर एक अनोखा दृश्य देखा। – क्या? बोले – वहाँ कौवा कथा कह रहा था और सुननेवाले हंस थे। निश्चित रूप से यह कोई काव्य नहीं है, स्वामीजी महाराज तो परमहंस हैं ही, पर आप लोग भी हंस हैं। और अपने काक होने में मुझे कोई सन्देह नहीं। ऐसी स्थिति में यह प्रभु की महान् अनुकम्पा है।

पिछले नौ दिनों से जो प्रसंग चल रहा है, आज उसके समापन पर दृष्टि डालें। 'मानस' के महान् पात्रों की गणना करते समय बहुधा उसमें अंगद के नाम पर उतनी सरलता से दृष्टि नही जाती। श्री भरत, श्री लक्ष्मण, श्री शत्रुघ्न, श्री हनुमान – इनकी महानता पर तो व्यक्ति का ध्यान तत्काल चला जाता है, पर अंगद के चरित्र में जो विलक्षण प्रतिभाएँ हैं, उस ओर दृष्टि नहीं जाती। परन्तु यदि आप उनके समग्र चरित्र पर दृष्टि डालें, तो उसमें आपको साधना के भिन्न भिन्न स्तर दिखाई देंगे। उनमें कुछ दुर्बलताएँ होते हुए भी वे क्रमश: उन दुर्बलताओं से ऊपर उठते हैं और उसकी पराकाष्ठा यह होती है कि प्रारम्भ में तो वे भगवान से प्रेम करते हुए दिखाई देते हैं, पर अन्त में जब प्रभु ने अंगद को अयोध्या से विदा किया, तब वे बड़े व्याकुल भाव से प्रभु के चरणों में प्रणाम करके जाने को बाध्य हुए। और लौटने के पूर्व अंगद जी ने बड़े प्रेमपूर्वक हनुमान जी से कहा – मेरी आपसे एक प्रार्थना है, अनुरोध है – आप बार बार श्रीराम को मेरी याद दिलाइएगा –

कहेउ दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि ।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि ।। ७/१९ क

हनुमान जी ने लौटकर प्रभु के सामने अंगद के ही प्रेम का वर्णन किया। गोस्वामी जी कहते हैं – भक्त तो भगवान के प्रेम में डूबते हुए दीख पड़ते हैं, पर श्रीराम जिनके प्रेम में डूबे हुए दिखाई देते हैं, वे हैं अंगद जी। जब हनुमान जी प्रभु को अंगद का प्रेम सुनाने लगे, तो वे अंगद के प्रेम में डूब गये –

तासु प्रीति प्रभु सन कही
मगन भए भगवंत ।। ७/१९ ख

इस प्रकार जो भगवान से प्रेम करते करते अन्त में भगवान के प्रेमपात्र बन गए, वे हैं अंगद जी महाराज।

अंगद के चरित्र को आप गहराई से पढ़ेंगे, तो आपको यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि अंगद का चरित्र तो सचमुच बड़ा

विलक्षण है, बड़ा उज्ज्वल है। और सचमुच वे ऊपर उठते हुए कहाँ-से-कहाँ पहुँच गए।

उसी क्रम में अंगद के चरित्र के विकास का सबसे महत्वपूर्ण प्रसंग है रावण की सभा में अंगद का पद-रोपण। रावण की सभा में अंगद अपना पद रोप देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं – रावण, यदि तुम या तुम्हारी सभा में कोई भी व्यक्ति मेरे पैरों को उठाने में समर्थ होगा, तो घोषणा करता हूँ कि मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे। कितनी विचित्र प्रतिज्ञा है। बहिरंग दृष्टि से देखें तो लगता है कि अंगद के द्वारा बड़ी भयानक प्रतिज्ञा की गई।

अंगद के द्वारा की गई इस प्रतिज्ञा और पद-रोपण का क्या अभिप्राय है? राक्षस अंगद का चरण हटाने में समर्थ नहीं हो पाते। इसके वेदान्तिक संकेत पर पिछले प्रवचन में चर्चा हुई थी। वहाँ अंगद के पैर की तुलना मोह से की गई है। मगर वह उपमा थोड़ी अटपटी इसलिए है, क्योंकि उससे किसी के मन में प्रश्न उठ सकता है – तो फिर रावण और अंगद में भेद ही क्या रहा? रावण भी तो मोह है।

परन्तु यह साहित्य की एक शैली है। मुझे विश्वास है कि आप साहित्य की शैली से परिचित होंगे और उसको उस पूरे अर्थ में नही लेंगे। वहाँ पर किसी विशेष उद्देश्य से ही अंगद के पैर की तुलना मोह से की गई है। ऐसे प्रयोग आपको कई प्रसंगों में मिलेंगे। भगवान राम जब मारीच के पीछे दौड़े, उसके पश्चात् भगवान राम का स्वर सुनकर सीताजी ने लक्ष्मण को उनके सहायतार्थ जाने के लिए कहा और जब वे चले, तो वहाँ गोस्वामी जी ने भगवान के लिए जो वाक्य कहा, वह कुछ सुन्दर-सा नही लगता। लक्ष्मण वहाँ जा रहे है, जहाँ चन्द्रमा-रूप रावण के लिए राहु-रूप राम थे –

बन दिसि देव सौंपि सब काहू।
चले जहाँ रावन ससि राहू ।।३/२८/६

रावण की तुलना चन्द्रमा से करना और श्रीराम को राहु बताना, यह तो प्रचलित परम्परा के विपरीत है। पर वहाँ पर इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि जैसे चन्द्रमा में जब पूर्णत्व का अभिमान आ जाता है और चन्द्रमा का परतिय-गामित्व ही उसके जीवन का कलंक है और रावण भी जैसे जनक-नन्दिनी सीता का हरण करता है, तो वहाँ उसे देखकर चन्द्रमा का स्मरण आना कवि के लिए स्वाभाविक है। वहाँ पर इस प्रकार लिया गया है कि जैसे राहु चन्द्रमा को पूरी तरह से ग्रसने में समर्थ हो जाता है, वैसे ही भगवान श्रीराम की सामर्थ्य रावण को अपना ग्रास बना लेगी। वहाँ भगवान राम को राहु कहकर उनका अनादर करने का कोई अभिप्राय गोस्वामी जी का नही है। इसी प्रकार से अंगद के प्रसंग मे भी उनके चरण को मोह का वृक्ष कहने का अभिप्राय यही है कि रावण जैसे कुयोगी के लिए मानो अंगद का चरण मोह का वृक्ष बन गया।

मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी ।। ६/३४/१४

गोस्वामी जी ने अंगद के सन्दर्भ में दो और भी बड़ी मधुर उपमाएँ दी हैं। 'मोह का वृक्ष' सुनकर कानों को जो एक अटपटापन लगता है, वह इन दोनों उपमाओं के द्वारा मिट जाएगा। एक उपमा तो गोस्वामी जी देते हैं 'मानस' में और दूसरी 'दोहावली' में। 'मानस' में उन्होंने कहा –

भूमि न छाड़त कपि चरन
देखत रिपु मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर
मन जिमि नीति न त्याग ।। ६/३४

यह बड़ा विचित्र वाक्य कहा है और इसके दो अर्थ लिए जाते हैं – जैसे करोड़ों विघ्न आने पर भी सन्त का मन नीति का परित्याग नहीं करता, वैसे ही अंगद का पाँव भूमि को नहीं छोड़ रहा है या दूसरे अर्थ में कहें तो पृथ्वी ही अंगद के चरण नहीं छोड़ रही है। इस उपमा में पृथ्वी मानो नीति है और अंगद का चरण मानो सन्त का मन है। इस प्रकार एक तो यहाँ पर गोस्वामी जी ने उस मोह शब्द का परिहार करने के लिए अंगद के चरण की तुलना सन्त के मन से की।

दूसरी उपमा उन्होंने दोहावली में दी, बड़ा आश्चर्यजनक है और उसके साथ बड़ी विचित्र प्रतिज्ञा है? और प्रतिज्ञा भी कहाँ की? रावण की सभा में। किसी बन्दर ने अंगद से पूछ दिया – महाराज, आपको प्रतिज्ञा करते हुए डर नहीं लगा? यदि पता चल जाय कि यहाँ कोई बहुत बड़ा भारोत्तोलन करनेवाला, बहुत बड़ा वजन उठानेवाला व्यक्ति मौजूद है, तो क्या उस सभा में कोई ऐसी प्रतिज्ञा करेगा? छोटा सा [illegible] रखकर क्या उसे उठाने की चुनौती देगा? और इतना ही नहीं, अंगद ने जो कुछ दाँव पर लगा दिया, क्या इसमें अंगद की धृष्टता नही है? अंगद ने यह साहस कैसे किया? अंगद से जब किसी बन्दर ने पूछा – "आपने उस सभा में यह प्रतिज्ञा की, जबकि आपको यह पता था कि रावण कैलाश पर्वत को उठा चुका है, तो जिस रावण ने कैलास पर्वत को उठा लिया, उस रावण की सभा में यह कहना कि तुम या तुम्हारी सभा में कोई भी मेरे पैर उठा दे, यह कैसी बात है? उस समय आपकी बुद्धिमत्ता और गणित का ज्ञान कहाँ गया था?" अंगद ने इसका बहुत अच्छा उत्तर दिया। वे बोले – मुझे पता था कि रावण कैलाश पर्वत को उठा चुका है, तो भी मेरा पैर नहीं उठा सकेगा। बड़ी विचित्र बात है, यह कौन-सा गणित है? कोई यह कहे कि यह व्यक्ति पचास मन का बोझ उठा चुका है, तो अब वह पाँच मन का बोझ क्या नही उठा सकेगा? यह तो बेतुकी बात हुई।

पर अंगद ने बहुत अच्छी बात कही। इसमें बड़ा सुन्दर आध्यात्मिक तत्व है। रावण ने कैलाश पर्वत उठाकर सचमुच ही बहुत बड़ी भूल की। रावण का यह जो कैलाश पर्वत उठाना है, स्थूल दृष्टि से तो यह बड़ी वीरता का कार्य है, पर

साधन और अध्यात्म की दृष्टि से रावण के जीवन को यही सबसे बड़ी भूल भी कही जा सकती है।

कैलाश पर्वत को उठाने के पीछे रावण की मनोवृत्ति क्या है? इसका एक बड़ा सुन्दर संकेत आता है भगवान राम और श्रीभरत के संवाद में। रावण यह घोषित कर चुका है कि शंकर मेरे गुरु हैं और भगवान शंकर रहते हैं कैलाश पर। तो कैलाश पर्वत सहित गुरु को उठा लेने का अर्थ क्या हुआ? गुरु शब्द का एक अर्थ है – अन्धकार को दूर करनेवाला। गुरु शब्द का दूसरा अर्थ है – जब कोई वस्तु भारी होती है तो कहते हैं, वह तो बड़ा गुरुतर बोझ है। 'मानस' में कहा गया है कि सेवा-धर्म कैलाश पर्वत या सुमेरु पर्वत से भी भारी है –

हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू ।। २/२५३/६

यह बड़ा सार्थक शब्द है। साधना में गुरु का महत्त्व क्या है? साधना में गुरु का महत्त्व श्रीराम और भरत के संवाद में व्यक्त हुआ है। जब भगवान राम ने अयोध्या का राज्य चलाने का भार भरत को सौंपते हुए कहा कि पिता के धर्म की और प्रजा की रक्षा का भार तुम पर है, तब भरत जी ने व्याकुल होकर कहा – प्रभो, इतना बड़ा भार मुझे देते हुए मेरी योग्यता पर आपने दृष्टि नहीं डाली। क्या मुझ जैसा अयोग्य व्यक्ति इतना बड़ा बोझ उठाने में समर्थ है? –

देवँ दीन्ह सबु मोहि अभारू ।
मोरें नीति न धरम बिचारू ।। २/२६९/३

प्रभु ने गुरु वशिष्ठ की ओर इंगित करते हुए कहा – भरत, तुम चिन्ता क्यों करते हो, इधर देखो, ये कौन हैं? प्रभु ने एक बड़ा सुन्दर, साहित्यिक और बड़ा ही सुन्दर दार्शनिक शब्द कहा। बोझ दो तरह से उठाया जाता है। एक तो बोझ को उठाकर आप सिर पर रख लीजिए। और दूसरा बोझ उठाने की शैली यह है कि जब किसी वस्तु को तौलते हैं तब उसे उठाकर सिर पर नहीं रख लेते। आप चतुर हैं तो उस वस्तु को तराजू के पलड़े पर रख देंगे। बहुत बढ़िया उपाय है। क्या? जब तराजू के पलड़े पर वस्तु रखी जाएगी तब तो वह पलड़ा भारी हो गया और उस पलड़े को यदि आप हाथ से उठावें तो वह बहुत भारी लगेगा। लेकिन दूसरी कला यह है कि तराजू के दूसरे पलड़े पर नाप वाला बाट रख दें, तो परिणाम क्या होगा? आपके बाट का पलड़ा जितना भारी होता जाएगा, आपके बोझ वाला पलड़ा उताना ही हल्का होता जाएगा। भगवान राम ने कहा – भरत, सिर पर भार लाद देने की क्या आवश्यकता है, तराजू पर तौलो। और कैसे तौलो? एक ओर सारा भार और दूसरी ओर के लिए गुरुदेव तो हैं ही, उन्हें रख दो, भार अपने आप हल्का हो जाएगा। भगवान का शब्द यही है – "भरत तुम कहते हो कि यह बोझ बहुत बड़ा है, पर हम लोगों को गुरु वशिष्ठ जैसे गुरु प्राप्त हैं। सोचो, मैं इतना बड़ा राज्य छोड़कर चला आया, पिताजी इतने अस्वस्थ थे, पर उस समय मेरे मन मे यही विश्वास था कि कुछ भी क्यो न हो, गुरुदेव हैं तो कोई चिन्ता नहीं है, अयोध्या का राज्य ठीक ठीक चलता रहेगा। भरत, मैं तुम्हें भी वही मंत्र बता दे रहा हूँ कि जब कोई समस्या का भार आये, तो तुम गुरु के चरणों की धूल ले लेना" –

देसु कोसु परिजन परिवारू ।
गुरु पद रजहिं लाग छर भारू ।। २/३१५/७

ये शब्द कितने सुन्दर हैं – गुरु के चरण-रज का जो कण है, वह इतना भारी है कि वह सारी समस्याओं को हल्का बना देता है। भगवान का सांकेतिक अभिप्राय यह है कि यदि साधक अपनी चिन्ताओं का सारा भार उनके चरणों में अर्पित कर देता है और उनके चरणों में सच्ची श्रद्धा-वृत्ति रखता है, तो वह बोझ हल्का हुए बिना नही रहेगा। भगवान श्रीराम ने भरत जी को यह मन्त्र दे दिया – तुम विश्वास रखो, केवल गुरु के चरणों की धूल से ही सब भार हल्का हो जाएगा।

परन्तु रावण यह बहुत बड़ी गल्ती कर बैठा। यदि कोई व्यक्ति तराजू के पलड़े से तौलने की माप को उठा ले, तो क्या परिणाम होगा? तब वह जो भी वस्तु उठायेगा, उसे अपने परिश्रम से उठाना होगा। वह अपने आप नहीं उठेगी। एक ओर बाट रखते ही तराजू के पलड़ेवाला बोझ अपने आप उठ जाता है। रावण की सबसे बड़ी बुद्धिहीनता यह थी कि उसने गुरु को ही हल्का बना दिया। रावण उन्हें हल्का बनाने के लिए ही तो प्रयत्नशील था। उसने सारे संसार को जीत लिया, तो लोग कहते कि रावण ने शंकर जी को छोड़ सारा संसार जीत लिया। रावण को यह बात कचोटती थी। बड़ी समस्या थी, एक ओर तो वह शंकर जी को गुरु मानता था और लोग कहते – रावण ने शंकर जी को छोड़ सबको जीत लिया, तो यह बात उससे सहन भी नहीं होती थी।

एक प्रसिद्ध घटना है। काशी के एक बड़े विद्वान् थे। वे सारे देश में शास्त्रार्थ करने गए। सबको हरा दिया। लौटकर आए तो जिन गुरुदेव से उन्होंने विद्या प्राप्त की थी, उन्होंने प्रेम से पूछा – बेटा, मैंने तो सुना है कि तुमने सारे विद्वानों को हरा दिया। उन्होंने कहा – गुरुजी, बस आप ही बाकी हैं। यह क्या है? यही विद्वता का अभिमान है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी-न-किसी रूप में कहना कि मैं आपसे शास्त्रार्थ नहीं कर रहा हूँ, यह मेरी शिष्टता है, नहीं तो आप भी मेरी विद्वता के सामने टिक नहीं सकेंगे। और गुरु का अभिप्राय है अभिमान का त्याग। जब शिष्य ने अपना अभिमान गुरु के चरणों में अर्पित किया, तो शिष्य हो गया हल्का और गुरु हो गये भारी। गुरु का गुरुत्व यही है।

रावण ने सोचा – शंकर जी से सीधे लड़ें तो लोग आलोचना करेंगे कि गुरुजी से लड़ गया और न लड़ें तो कहेंगे कि शंकर जी से छोटा है। तो कुछ ऐसा उपाय करें कि गुरु

भी हल्के हो जायँ और कोई दोष भी न दे।

रावण को एक उपाय सूझा। शंकर जी कैलाश पर्वत पर बैठे थे। उसने जाकर कैलाश पर्वत को ही उठा लिया। अब बाहर से देखने से तो यही लगा कि बड़ी श्रद्धा का कार्य कर रहा है। पर याद रहे, यह भी एक ढंग है। लोग तो गुरु के चरणों में प्रणाम करते हुए अपना सिर रख देते हैं और रावण ने गुरु को ही उठाकर अपने सिर पर रख लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि **जब आप गुरु के चरणों में सिर रखेंगे, तो आपके सिर का भार गुरु के चरणों में चला गया, पर जब आप गुरु को अपने सिर पर उठा लेंगे तब उनको अपने सिर पर बोझ बना लेंगे।** रावण का उद्देश्य यही था। रावण यह बताना चाहता है कि यह तो मेरी शिष्टता है कि मैं लड़ नहीं रहा हूँ, पर यह भी दिखा देना चाहता हूँ कि ये बिल्कुल हल्के हैं, इन्हें तो मैंने ही गुरु बना रखा है। शंकर जी बड़े कौतुकी हैं। वे बड़े प्रसन्न हुए। बोले – "चलो, अच्छा हुआ, पहले चरणों में प्रणाम करता था, जिसका बोझ मुझे उठाना पड़ता था, अब यह इतना अभिमानी हो गया है कि मेरा बोझ उठाना चाहता है। हल्का हो जाने में मुझे क्या आपत्ति है।" इसका सांकेतिक अभिप्राय क्या है? जब उसने आधार को ही उखाड़कर सिर पर उठा लिया, जिसके बल पर खड़े होकर वह अपना शौर्य प्रदर्शन करता था, जब आधार ही उठ गया, गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास ही उठ गया, तब उसके पास किसका बल बचा? इसका तात्विक अभिप्राय यह है कि **रावण अभिमान के कारण ही शिव की कृपा से वंचित रह गया।**

रावण ने कैलाश को उठाकर संसार को दिखा दिया, परन्तु अब तो वह धनुष को भी नहीं उठा पाता, अंगद को भी नहीं उठा पाता। क्यों नहीं उठा पाता? जिसके सहारे उठा पाता था, वह वस्तु ही जब नहीं रह गई, तो कैसे उठा पाएगा। वह वस्तु भगवान राम के पास थी। अन्य राजाओं ने भी धनुष को उठाने का प्रयत्न किया, पर उसे हिला भी नहीं सके। फिर जब श्रीराम उठे, तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान ने प्रयत्न भी नहीं किया और धनुष स्वयं ही उठ गया। गोस्वामी जी कहते हैं – प्रभु ने तो उसी कौशल से उठाया जो उनके पास था। श्रीराम धनुष को तत्काल नहीं उठा लेते। धनुष जो इतना भारी था, वह हल्का कब हुआ? वह हल्का तब हुआ जब तराजू के दूसरे पलड़े पर भी भारी बोझ आ गया। धनुष के पास पहुँचकर प्रभु ने क्या किया? – मन-ही-मन गुरुदेव को प्रणाम किया –

गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा।
अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा।। १/२६१/५

और कहा – गुरुदेव, आपने ही धनुष उठाने तथा तोड़ने को कहा है, अतः यह कार्य आपके ही बल से होना है। 'अति लाघव' – यह लाघव शब्द लघु से बना है और गोस्वामी जी ने इस पंक्ति में लघु और गुरु – दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ज्योंही श्रीराघवेन्द्र ने माना कि यह तो गुरुजी का संकल्प है, गुरुजी की कृपा से पूरा होनेवाला है, इसमें मैं तो केवल निमित्त दिखाई दे रहा हूँ। इस निरभिमानता, इस विनम्रता और इस गुरुभक्ति के कारण ही मानो वह अभिमान का धनुष हल्का हो गया। श्रीराम साक्षात् ईश्वर होते हुए भी संसार के सामने मानो यह एक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

उस धनुष-यज्ञ में रावण भी आया था, परन्तु उसने धनुष उठाने की चेष्टा ही नहीं की। इसका एकमात्र कारण यह था कि रावण जिसकी कृपा से वह धनुष उठा सकता था, अभिमान के कारण उनकी कृपा से वंचित हो चुका था। अंगद बोले – "मुझे यह पता था कि यह शंकर के कैलाश को उठा चुका है। बस, मैं समझ गया कि अब इससे कुछ उठने वाला नहीं है। जब इसने गुरु को हल्का बना दिया है तो अब कोई बोझ उठाने की शक्ति इसमें नहीं है।" इसका एक दूसरा तात्पर्य भी है। पूछा गया – अंगद का चरण न उठने का क्या अभिप्राय है? गोस्वामी जी बोले – दो में से एक बात होगी या फिर दोनों होंगी। – कौन-सी? वे कहते हैं – मैं समझ नहीं पाता कि इसमें प्रभु की महिमा देखूँ कि सेवक का विश्वास –

तेहि समाज कियो कठिन पन
जेहिं तौल्यो कैलास।
तुलसी प्रभु महिमा कहौं
सेवक को बिस्वास।। (दोहावली, १६७)

इस प्रकार एक ओर तो अंगद का चरण सन्त के मन का प्रतीक है और 'दोहावली' में गोस्वामी जी अंगद के चरण को भक्तों के विश्वास का प्रतीक बताते हैं। रावण की सभा में अंगद की जो प्रतिज्ञा है, यही उनके जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। सर्वोच्च स्थिति का अर्थ क्या है?

ज्ञान का अर्थ है जान लेना। अंगद में ज्ञान और विचार तो पहले से ही था, लेकिन इस ज्ञान का फल है विश्वास। जब हम किसी बात को जानते हैं, जैसे किसी विद्यार्थी ने अपनी पढ़ाई ठीक से की है तो उसकी कसौटी क्या है? उसने जो पढ़ा है उसकी स्मृति यदि उसकी परीक्षा के समय आ जाय, तो वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है और यदि वह उस समय भूल जाय तो अनुत्तीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान की चरम परिणति है ज्ञान लेना। और जान लेने का बाद जब आपके मन में निश्चय हो गया, तो यह निश्चय ही विश्वास है। इसलिए रामायण में जानने का फल विश्वास बताया गया है। उत्तरकाण्ड में है – सच्चा विश्वास बिना जानकारी के नहीं होता –

जानें बिनु न होइ परतीती। ७/८९क/७

विश्वास दो प्रकार का होता है – बिना जाने विश्वास और जानकर विश्वास। बिना जाने विश्वास में धोखे की सम्भावना बनी रहती है। ऐसे विश्वास के कारण कई लोग ठगे

जाते हुए भी दिखाई देते हैं। जहाँ पर विश्वास के कारण व्यक्ति ठगा जाता है, वहाँ समझना होगा कि वह अज्ञानमूलक विश्वास है, लोभमूलक विश्वास है। विश्वास के कई अन्य रूप भी हैं। किसी साधु-वेशधारी ने लोभ दिखा दिया कि हम तो नोट दूना बनाते हैं। सामनेवालों ने विश्वास कर लिया। यह विश्वास ज्ञानजन्य नहीं, लोभजन्य है। रहीम ने बहुत बढ़िया बात कही है – जैसे चश्मा लगा लेने से सामने की वस्तु बड़ी दिखाई देने लगती है, वैसे ही जब व्यक्ति लोभ का चश्मा आँख पर चढ़ा लेता है, तो छोटा व्यक्ति भी बड़ा दिखने लगता है –

दिये लोभ चशमा चखनि दीनहु बड़ो लखाय।

यदि नोट दूना करनेवाला चश्मा चढ़ा, तो धूर्त भी एक बड़ा साधु लगने लगता है। व्यक्ति उससे ठगा जाता है। यह जो अज्ञानजन्य, लोभजन्य विश्वास है, उस विश्वास में तो हानि की सम्भावना है। लेकिन गोस्वामी जी जिस क्रम से विश्वास की प्राप्ति बताते हैं, उसके अनुसार भगवान की सबसे बड़ी कृपा तब है, जब विश्वास प्राप्त हो जाय –

रामकृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहि प्रीति।। ७/८९क/६-७

ज्ञान में व्यक्ति का बड़ा पुरुषार्थ लगता है, पर विश्वास तो पूर्णत: भगवत्कृपा का ही फल है। जानने के बाद उस अवस्था में प्रतिष्ठित होना, अंगद के चरित्र की विशेषता है।

बिनु बिस्वास भगति नहिं
तेहि बिनु द्रवहिं न रामु। ७/९०

वस्तुत: यह विश्वास ही भक्ति का प्राण और भक्ति का सर्वस्व है। और वहाँ यह भी कहा गया – बिना प्रेम के भक्ति दृढ़ नहीं होती –

प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। ७/८९क/८

प्रेम बिना विश्वास के नही आता। विश्वास बिना ज्ञान के नहीं आता। 'मानस' में तो विश्वास की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की गई है, बड़े ही विस्तार और विशद रूप में की गई है। विश्वास में क्या विशेषताएँ होती हैं; क्या समस्याएँ आती हैं, उसे भिन्न भिन्न प्रसंगों में अलग अलग प्रतीकों के माध्यम से प्रगट करने की चेष्टा की गई है। जैसे विश्वास का एक रूप यह बताया गया कि सन्त समाज मानो तीर्थराज प्रयाग है। आप लोग तो तीर्थराज प्रयाग का दर्शन करने गए होंगे, वहाँ 'अक्षयवट' दर्शन करने की परम्परा है। त्रिवेणी संगम के पास एक वटवृक्ष है। उस वटवृक्ष के साथ परम्परा से एक शब्द जुड़ा हुआ है – 'अक्षय-वट'। गोस्वामी जी कहते हैं, जहाँ सत्संग हो रहा है, वहीं त्रिवेणी संगम है। और अक्षयवट क्या है? गोस्वामी जी सूत्र देते हैं – अचल विश्वास ही अक्षयवट है –

बटु बिस्वास अचल निज धरमा। १/२/११

यह अचल शब्द ही उसका प्राण है। विश्वास का प्राण है अचल। इसका अर्थ **यह हुआ कि यदि आप रायपुर में वट का** वृक्ष देखकर चले **जायँ और प्रयागराज के उस वटवृक्ष को** देखे, तो बहिरंग दृष्टि से तो दोनों में कोई भेद नहीं दिखेगा, लेकिन भेद है। अन्य वट को हम वट कहते हैं, पर तीर्थराज के संगम पर जो वट है, उसके साथ साथ एक शब्द और जोड़ देते हैं – 'अक्षयवट'। देखने में तो सारे वट एक जैसे दिखाई देते हैं, लेकिन उनमें और अक्षयवट में बड़ा भेद है।

जितने लोग मिलते हैं, सभी कहते हैं कि मै ईश्वर पर विश्वास करता हूँ, ईश्वर को मानता हूँ। लाखों लोग विश्वासी हैं और सभी एक जैसे दिखाई देते हैं। परन्तु उनका विश्वास क्या अचल और अक्षय है?

अब इस वृक्ष का नाम अक्षयवट क्यों पड़ा? इसकी क्या विशेषता है? इसका परिचय आपने पुराणों में पढ़ा होगा।

'मानस' में भी गोस्वामी जी ने सीताजी और जनकजी के प्रसंग में एक रूपक का प्रयोग किया। मार्कण्डेय जी बड़े दीर्घजीवी महापुरुषों में गिने जाते हैं। एक बार उन्होंने भगवान से कहा – प्रभो, एक बार मैं प्रलय देखना चाहता हूँ। भगवान मुस्कुरा कर बोले – तुम जरूर देखोगे। – क्यों? – इसलिए कि तुम्हारी आयु इतनी लम्बी है, तो प्रलय भी तुम्हारे सामने आ ही जाएगा, तब देख लोगे। मार्कण्डेय जी ने कहा – "नहीं महाराज, प्रलय आयेगा तो हमें भी मर जाना पड़ेगा। मैं प्रलय देखना चाहता हूँ, पर बिना मरे ही देखना चाहता हूँ। प्रलय देख भी लूँ और मरूँ भी नहीं।" भगवान ने कहा – ठीक है, देखेंगे। उसके बाद अचानक भगवान अन्तर्धान हो गए और मार्कण्डेय जी को चारों ओर प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगा, जैसा कि पुराणों में वर्णन आया है – सारा समुद्र उमड़ पड़ा, सारी पृथ्वी जल में डूब गई और प्रयाग की भूमि पर भी जल लहराने लगा। और तब मार्कण्डेय को लगा कि हम भी डूबे। हाथ-पैर मार रहे हैं, पर इस अगाध जलराशि के नीचे पैर टिकाने के लिए जमीन ही नहीं मिल रही है। सहसा उन्होंने एक वृक्ष देखा। ज्यों ज्यों जल बढ़ रहा था, त्यों त्यों वह वृक्ष ऊपर उठता जा रहा था। देखकर चकित हो गए। बड़ी विचित्र बात है, सब डूब रहे हैं, पर यह तो ऊपर ही उठता जा रहा है। और इससे भी अधिक आश्चर्य उन्हें तब हुआ, जब उन्होंने देखा कि उस वृक्ष के एक पत्ते पर एक दिव्य सुन्दर साँवले रंग का बालक लेटा हुआ मुस्कुरा रहा है और उसके पैर का अँगूठा उसके मुँह में है। आश्चर्य ! सब डूब रहे हैं, और यह बालक बचा हुआ है। बचने के लिए इस बालक ने स्थान भी चुना तो वट के पत्ते को चुना। और उससे भी अधिक आश्चर्य कब हुआ? जब मार्कण्डेय जी को लगा कि अब मैं डूबने ही वाला हूँ, तो उस बालक ने मार्कण्डेय की ओर अँगुली बढ़ाई। बालक ने बूढ़े को बचाने के लिए जब

हाथ बढ़ाया, तो बड़ा अद्भुत दृश्य था। बालक डूबने लगे तो बूढ़े लोग हाथ बढ़ाकर बचाते हैं, पर यहाँ तो बूढ़े मार्कण्डेय डूब रहे हैं, तो बालक ने हाथ बढ़ा दिया। मार्कण्डेय ने ज्योंही हाथ पकड़ा, भगवान ने ऊपर से सहारा दे दिया। वे भगवान बालमुकुन्द थे। परिणाम यह हुआ कि शान्त होकर वे उसकी डाल के पास खड़े हो गए, सारा प्रलय का दृश्य समाप्त हो गया। भगवान ने कहा – मार्कण्डेय, तुम प्रलय देखना चाहते थे, सो मैंने तुम्हें दिखा दिया।

गोस्वामी जी कहते हैं – अक्षयवट अचल विश्वास है। विश्वास के सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने बड़े महत्त्व की बात कही है – केवल चिल्लाने से नहीं होगा कि मेरे पास विश्वास है, मेरे पास विश्वास है। विश्वास तो तब होगा जब प्रलय होने लगेगा। सृष्टि का प्रलय होगा तब की बात तो अलग है, पर हमारे आपके जीवन में प्रलय होते ही रहते हैं। प्रतिकूलताएँ समुद्र की तरह उमड़ पड़ती हैं और उससे हम चारों ओर से हताश हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि हम गए। ऐसी परिस्थितियाँ हम लोगों के जीवन में आती हैं, तब व्यक्ति को लगता है कि इस समस्या से हम पार नहीं पा सकेंगे। मानो संकेत यह है कि प्रतिकूल परिस्थिति, सब कुछ डूब जाने की परिस्थिति में जो विश्वास बढ़े वही सच्चा विश्वास है – अक्षयवट है।

जबलपुर में हमारे एक परिचित व्यक्ति थे। पहले तो वे शंकर जी की बड़ी भव्य पूजा करते थे। फिर उनके जवान पुत्र की मृत्यु हो गई। उन्होंने नौकर को आदेश दिया कि शंकर जी की जितनी भी मूर्तियाँ हैं, उन्हें फेंक आओ। इसका अर्थ क्या हुआ? इतने दिन तक तो उन्हें पूजा में बड़ा विश्वास था और समझते थे कि मुझे बड़ा विश्वास है, पर जब उनके सामने यह दृश्य उपस्थित हुआ तो उन्हें क्या लगा? लगा कि भगवान ने तो मेरे साथ यह बड़ा विश्वासघात किया है। यह विश्वास तो अक्षय नहीं है। **विश्वास की पहली शर्त यह है कि वह अति प्रतिकूल परिस्थिति में भी बढ़ता ही जाय, घटे नहीं।**

दूसरा संकेत है – प्रलय के समय वट के पत्ते पर भगवान बैठे हैं, इसका अर्थ क्या है? मानो भगवान ने मार्कण्डेय से कहा कि जब जीवन में प्रतिकूलताओं का समुद्र उमड़ता है, तब 'मैं' डूब जाता है। वह विश्वास ही है, जिसके सहारे जीवन बचा रहता है और विश्वास के बल पर ही ईश्वर भी बचा रहता है। आस्था और विश्वास न रह जाय तो ईश्वर का कोई प्रमाण ही न रह जाएगा। गोस्वामी जी सीताजी और जनकजी के प्रसंग में इसे इस प्रकार कहते हैं – वट वृक्ष के पत्ते पर जो बालक बालक सोया हुआ है, वह है 'रामप्रेम' –

ता पर राम प्रेम सिसु सोहा ।।
चिरजिवी मुनि ग्यान बिकल जनु ।
बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ।। २/२८६/६-७

गोस्वामी जी ने इन तीन बातों को जोड़ दिया – वट का वृक्ष, भगवान और मार्कण्डेय। वे कहते हैं – मार्कण्डेय ज्ञान हैं, वट का वृक्ष विश्वास है और यह जो भगवान बालमुकुन्द हैं, वह है 'रामप्रेम'। ज्ञान की शोभा वृद्धता में है और प्रेम की शोभा बालक होने में। क्योंकि ज्ञान की परिपक्वता वार्धक्य में मानी जाती है। जैसे वृद्ध को परिपक्व-मति कहा जाता है, तो इसका अर्थ है उसका ज्ञान परिपक्व है। पर प्रेम की विशेषता क्या है? बालक दिन-प्रतिदिन नया होते जाता है। इसी प्रकार हमारा प्रेम बढ़ता जाय। **ज्ञान में घटना-बढ़ना कुछ नहीं है, पर प्रेम में बढ़ना ही बढ़ना है।** मानो संकेत यह है कि जब हमारे अन्तःकरण में प्रेम रहता है तो हमारा प्रेम भगवान के प्रति बढ़ता ही जाता है। जब हमारा विश्वास अक्षय रहता है, तब परिणाम होता है कि दिखाई देनेवाला प्रलय समाप्त हो जाता है। इसलिए विश्वास की पहली व्याख्या की गई – **जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अक्षय बना रहे, अचल बना रहे, यह विश्वास का पहला स्वरूप है।**

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

नागालैंड की यात्रा

अरुणा चाबा

सूचना एवं संचार-तंत्र के इस युग ने भौगोलिक दूरियाँ तो खत्म कर दी हैं, परन्तु संकीर्ण मानसिकता के दिलों में लकीरें अब भी खींची हुई हैं। उन्हीं लकीरों के जाल में फँसे हुए लोग स्वार्थपूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं तथा कुण्ठाओं के बीच ताल-मेल बिठाते हुए जिंदगी बिता रहे हैं। टिक टिक करती घड़ी की सूइयाँ सबको भागते रहने पर मजबूर करती रहती हैं। तथापि जीवन में कभी कभी कुछ पल ऐसे भी आते हैं, जब लगता है कि हमें सुकून देने के लिए समय रुक गया है। तब उन रुके हुए पलों में आगे-पीछे के अनेक बिखरे मोतियों को बटोर कर जीवन के सकारात्मक पहलू को देखने का अवसर मिल जाता है। यही मोती संस्मरण बन कर हमें संकीर्ण दायरे से बाहर निकल कर सार्थक जीवन बिताने के लिए भी प्रेरित करते हैं। ऐसे ही कुछ अमूल्य पलों के संस्मरण को मैंने कलमबद्ध करने का एक छोटा-सा प्रयास किया है।

बहुत साल पहले बर्फ से ढँकी हिमांचल की वादियों में जन्म लिया था। फिर डक्कन के पटार में शिवाजी की धरती पर माता-पिता की छत्रछाया में बचपन बिताया था। पढ़-लिखकर राजस्थान के रेतीले टीलों पर चलते हुए खुद को अपने पैरों पर खड़ा किया था। उसके बाद घर-गृहस्थी की डोर खींचकर दक्षिण में समुद्र की लहरों के समीप ले गई थी। तब पंजाब के खेतों की सोंधी खुशबू का आनन्द लिया था, जब अंगुली थामे मेरी बेटी ने गाँव के सुए में डुबकी लगाने के ज़िद की थी। फिर परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि सरकारी नौकरी देश की राजधानी दिल्ली भी ले आई। मेरी अन्तरंग सहेलियों ने बंगाल तथा जम्मू-काश्मीर की संस्कृति से परिचय करवाया था। नतीजा यह हुआ कि अब गले में पड़े मंगलसूत्र को देखकर कोई मुझे मराठी कहता है, सिल्क की साड़ी से किसी को मेरे तमिल होने का एहसास होता है। माथे की बड़ी-सी लाल बिंदिया देखकर लोग मुझे बंगाली समझते हैं। लाख के कड़े राजस्थानी होने का दावा करते हैं। रंग-रूप हिमाचल की छाप छोड़ता है। यह सब सुनकर मैं सोचने के लिए मजबूर हो जाती हूँ कि **सब मुझे भारतीय क्यों नहीं कहते !**

मेरे मन में एक कसक रहती थी कि मैं पूर्ण भारतीय तो तभी कहलाऊँगी, जब मेरे व्यक्तित्व में उत्तर-पूर्वांचल की भी छाप हो। तभी तो जब नागालैंड के अधिकारियों के लिए एक प्रशिक्षण का प्रस्ताव आया, तो मैंने अपनी सहकर्मी से सलाह की और कोहिमा जाने के लिए हामी भर दी। शुभचिन्तकों ने कहा, "अपहत होने का इरादा है क्या?" किसी ने कहा, "शाम को चार बजे ही अँधेरा हो जाता है, बोर हो जाओगी, कहीं बाहर भी नहीं निकल सकोगी।" किसी ने डराया, "वहाँ शाकाहारी भोजन की आशा मत रखना।" आदि आदि ...।

शंकित मन के साथ हमने कोहिमा की यात्रा आरम्भ की। दीमापुर हवाई अड्डे पर पहुँचते ही सूर्य की तीखी किरणों से सामना हुआ। "कोहिमा में पाँच दिनों तक सूर्य के दर्शन नहीं होंगे" – कहकर हमारे साथ चल रहे प्रशिक्षण समन्वयक ने एक और झटका दिया। मन के उतार चढ़ाव के साथ, ऊँची पहाड़ी राहों और नीची घाटियों के बीच सन्तुलन बनाते बनाते हम टैक्सी द्वारा रात को कोहिमा पहुँचे।

हमारे स्वागत के लिए अधिकारियों के नाम भी पहाड़ की सर्पीली राहों के समान ही टेढ़े-मेढ़े थे। छोटी छोटी आँखोंवाले ये लोग शक्ल से एक जैसे ही लग रहे थे। यह सोचकर मन की दुविधा और बढ़ गई कि इन्हें सम्बोधित कैसे करेंगे? खैर अब तो दूसरा कोई चारा ही नहीं था।

हमें पहला सुकून तब मिला, जब घर से इतनी दूर होकर भी, रहने के कमरे में सब सुविधाएँ देखी। काम करने के लिए कमरे में कम्प्यूटर का प्रबन्ध भी था। हाँ, टी.वी. न देखकर निराशा हुई। हाथ-मुँह धोकर जब हम डाइनिंग हाल में पहुँचे तो पतली दाल में चम्मच घुमाते हुए, कमरे में रखी पिन्नियों और मठ्ठियों की याद आ गई, जिन्हें हम आपातकालीन भोजन के रूप में दिल्ली से लेकर चले थे।

१२ घण्टे के सफर की थकावट थी। मुलायम कम्बल को ओढ़कर न जाने कब नीद आ गई, पता ही नहीं चला। आँखें तब खुलीं, जब लगा कि प्रभात की लालिमा हौले से आकर सन्देश दे रही है – "उठो, नगालैंड में तुम्हारा स्वागत है।" घड़ी की तरफ नजर डाली, तो पाया कि सुबह के साढ़े चार ही बजे हैं। अलसाई आँखों से खिड़की का परदा हटाकर देखा, तो बाहर का दृश्य देखकर मैं मंत्रमुग्ध रह गई।

सामने पहाड़ियों की ढेरों चोटियाँ थीं। घने जंगलों से लदी इन चोटियों के पीछे नीला आकाश था। पहाड़ों और आकाश के बीच लालिमा की सुनहरी लकीर खिंची थी। पास ही दो पहाड़ों को बीच रूई के फाहे की तरह बादलों का एक बड़ा-सा टुकड़ा चाँदी सरीखा चमक रहा था। नजारा इतना मनमोहक था कि मैं अपनी सहकर्मी मीनाक्षी को लगभग घसीटते हुए बाहर ले आई। थोड़ी ही देर बाद सूर्य का चमकीला गोला अचानक ही गेंद की भाँति उछल कर एक पहाड़ के पीछे से प्रगट हो गया। १०,००० फीट की उँचाई पर उत्तर-पूर्व क्षेत्र के इस सूर्योदय ने कई साल पहले सुदूर दक्षिण के समुद्र तट पर कन्याकुमारी में देखे सूर्योदय की याद ताजा कर दी। प्रभु

की लीला न्यारी है। शीतल हवा के सुरीले गान ने हम दोनों के चेहरे पर इतनी मुस्कान बिखेर दी कि हम दोनों एक साथ बोल पड़ी, "Land of Rising Sun (सूर्योदय की इस भूमि) में हमारे आने का फैसला गलत नहीं था।" फिर नाश्ते की टेबल पर गर्म गर्म आलू के पराठों के साथ मुस्कुराते हुए एक वृद्ध नेपाली रसोइए ने हमारे फैसले पर मोहर लगा दी।

प्रशिक्षण के लिए आए हुए करीब पचास अधिकारियों से परिचय के दौरान महसूस हुआ कि देश के उत्तर-पूर्वांचल में देश के अन्य भागों की तुलना में भौगोलिक तथा राजनीतिक भिन्नता होने के बावजूद वहाँ के अधिकारी तकनीकी ज्ञान में पीछे नहीं थे। प्रशासन व्यवस्था में स्थानीय समुदाय (Local community) के महत्त्व को जाननेवाले अधिकारियों को हमें ई-गवर्नेन्स (e-Governance – कम्प्यूटर की सुविधाओं पर आधारित प्रशासन) का सिद्धान्त समझाने में कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि देखा जाय, तो ई-गवर्नेन्स का मूल सिद्धान्त भी आम व्यक्ति को सर्वोपरि समझकर स्थानीय संसाधनों को बढ़ावा देना है और उन संसाधनों की सूचना जरूरतमन्द लोगों तक पहुँचाना है। एक अधिकारी द्वारा बनाई गई वेब-साइट इसका जीता जागता उदाहरण था, जिससे पता चला कि वहाँ के पहाड़ी जंगलों में औषधियुक्त पौधों का खजाना भरा पड़ा है, जो देश के अन्य भागों के पीड़ित लोगों के लिए वरदान साबित हो सकता है।

प्रशिक्षार्थियों का उत्साह देखकर हमें विश्वास हो गया कि उत्तर-पूर्वांचल के ब्लॉक स्तर पर CICS (Community Information Centres – सामुदायिक सूचना केन्द्रों) की स्थापना करके प्रधानमंत्री का Digital Divide को पाटने का सपना जरूर साकार होगा। प्रशिक्षण के अन्तिम दिवस तक प्रशिक्षार्थियों की शत-प्रतिशत उपस्थिति ने तो वहाँ के वरिष्ठ अधिकारियों को भी अचम्भे में डाल दिया। तभी तो प्रशिक्षण के अन्तिम दिन हममें से एक प्रशिक्षक की टिप्पणी थी – प्राकृतिक सुन्दरता से भरपूर प्रदेश के सुन्दर लोग 'ई-गवर्नेन्स' को अपनाने में किसी से भी पीछे नहीं रहेंगे।

हमें नागालैंड के राज्यपाल से भी मुलाकात का अवसर मिला। उन्होंने हमारी टीम के सदस्यों के साथ एक घण्टे तक राज्य में कम्प्यूटरीकरण के बारे में विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श करके एक सन्देश दिया कि सरकार वहाँ के लोगों की तरक्की के लिए वचनबद्ध है। राजभवन से वापसी के समय रात को पहाड़ों की घाटियों में टिमटिमाते क्रिसमस के बल्बों की लड़ियों और प्रदूषित वातावरण से अछूते काले आकाश में टिमटिमाते तारों ने भी हमारा मन मोह लिया। गिटार पर किसी घर से आती हुई धुन ने हमें सन्देश दिया कि संगीत के लिए भौगोलिक और राजनीतिक भेद कोई मायने नहीं रखता।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समाधिक्षेत्र में, शहीद हुए नौजवानों के स्मारक पर श्रद्धासुमन चढ़ाते समय पूरी लगन के साथ फूलों की क्यारियों को सँवारते हुए माली को देख कर लगा कि काश हर मानव माली बनकर पूरे विश्व को खिलखिलाते फूलों की बगिया बना दे। तब दुनिया में न नफरत होगी और न ही माँ के किसी लाल को दूसरों के जीवन के लिए कुर्बानी देनी पड़ेगी। वहाँ के फूलों ने हमें इतना बाँध लिया कि वहाँ के प्रशिक्षण संस्थान के निदेशक ने खास तौर से हमारे लिए कपड़े से बने फूलों के गुलदस्ते भेंट किये, जो अब हमारे ड्राइंग-रूम की शोभा बढ़ा रहे हैं।

भाग्यवश हमें नागालैंड की स्थापना-दिवस के अवसर पर होनेवाले वार्षिक समारोह में भी शामिल होने का अवसर भी मिला। चेहरे पर मधुर मुस्कान लिए स्थानीय वेशभूषा में घूमते हुए लोगों की रंग-बिरंगी पोशाकों की छवि को हमने अपने कैमरे में समेट लिया। हनीबेल नामक इस समारोह के मेले में मैंने लकड़ी के दो छोटे छोटे तीरों और ढाल का बना एक ब्रोच खरीदा। उस ब्रोच को अपनी साड़ी पर लगाते ही मुझे लगा कि अब मैं पूर्णतया भारतीय हूँ।

कोहिमा से वापसी की राह में रंग-बिरंगे फूलों के बीच कार को दौड़ाते हुए ड्राइवर को वह ब्रोच दिखाते हुए मैंने उसके महत्त्व के बारे में पूछा। उसने बताया कि यह चिह्न वहाँ के कबीले की पहचान है, जिसे पहनकर नगालैंड में बेखौफ घूमा जा सकता है। तभी मेरे मन में यह ख्याल आया कि क्यों न हम सब राष्ट्रीय स्तर पर एक ऐसा चिह्न बना लें, जिसे पहनकर हम कह सकें कि हमारा कबीला भारतवर्ष है, जिसकी धरती पर न राज्यों की लकीरें हैं, न जातिवाद की दीवारें हैं, न कोई संकीर्ण विचारधारा है और न ही अमीर-गरीब के बीच की खाई है।

आओ, हम सभी मिलकर एक राष्ट्रीय चिह्न पर विचार करें और सच्चे भारतीय होकर अटूट राष्ट्र के निर्माण में जुट जाएँ।

जीने की कला (२५)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

क्या मृत्यु के बाद जीवन है

सृष्टि के प्रारम्भ से ही, मृत्यु मानव के लिए जिज्ञासा तथा चिन्ता का विषय रही है। वह इस पर विचार करता रहा है। जन्म और मृत्यु के रहस्य को सुलझाने के प्रयत्न भी होते रहे हैं। ये प्रश्न उठते रहे हैं – मृत्यु के समय कैसा अनुभव होता है? मृत्यु के समय जीव को कैसी अनुभूति होती है? क्या मृत्यु-काल में असीम दुख-कष्ट होता है? भारतीयों का विश्वास है कि मनुष्य एक देहधारी आत्मा है और वह स्वरूपत: दिव्य है। हम लोग मानते हैं कि आत्मा शरीर में प्रविष्ट होकर भी इससे भिन्न एक अमर चेतन तत्त्व है, जिसे 'जीवात्मा' कहते हैं। क्या यह सत्य है? जब हम कहते हैं, "वह संसार से विदा हो गया।" तो इससे हमारा क्या अभिप्राय है? यह कहावत बड़ी प्रचलित है, "देहरूपी पिंजरे को छोड़ जीवरूपी पखेरू उड़ गया।" यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि शाश्वत आत्मा तथा शरीर के बीच वही सम्बन्ध है, जो हम तथा हमारे मकान या परिधान के बीच है। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "मृत्यु म्यान से तलवार निकालने के समान है। देहधारी आत्मा अपने देहरूपी आवरण को छोड़ देती है।" तो फिर आत्मा कहाँ चली जाती है?

हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म 'मरणोत्तर जीवन' और कर्म के सिद्धान्त की दृढ़ नींव पर स्थित हैं। सेमेटिक-धर्म कर्मवाद तथा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते, परन्तु किसी-न-किसी रूप में वे विश्वास करते हैं कि शरीर की मृत्यु के बाद भी आत्मा स्वर्ग या नरक में विद्यमान रहती है। क्या भारतीय दर्शन की आधारशिला-रूप कर्मवाद और आत्मा के पुनर्जन्म की धारणा सचमुच ही तर्कसंगत है? या फिर क्या वे मात्र विश्वास की वस्तु हैं? क्या आधुनिक विज्ञान यह सिद्ध कर सकता है कि वे सार्वभौमिक सत्य हैं? गुरुत्वाकर्षण के नियम की भाँति क्या इन नियमों की समझ व स्वीकृति सभी धर्मो के लोगों के बीच मेल-मिलाप तथा सौहार्द्र की भावना पैदा कर सकती है? इस अध्याय में इन प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयास किया गया है।

विगत कुछ वर्षों से अमेरिका तथा रूस के मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक अतिन्द्रिय अनुभवों के विषय में शोध कर रहे हैं। अमेरिका की डॉ. एलीजाबेथ कुवलेयर रोज एक विश्वप्रसिद्ध मनोचिकित्सक हैं। उन्होंने मृत्यु-शैया पर लेटे रोगियों के बारे में चिकित्सकों, नर्सों और रिश्तेदारों के मनोभाव में प्राय: एक क्रान्ति ला दी है। इस विषय पर दस वर्षों तक अध्ययन के बाद अपने निष्कर्षों के रूप में उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने असाध्य रोगों और मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे रोगियों सहित विभिन्न बीमारियों से पीड़ित हजारों रोगियों से बातें करके उनकी तत्कालीन मनोदशा का अध्ययन किया है। प्राय: २५ वर्षों तक एक चिकित्सक के रूप में कार्य करते हुए उनमें मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे रोगियों की प्रतिक्रियाओं के बारे में रुचि जगी। कुछ रोगी शोकातुर होकर विलाप करते थे, जबकि कुछ अन्य ने अभूतपूर्व सुख-शान्ति का भाव प्रकट किया। कुछ रोगी अज्ञात शक्तियों के सम्पर्क से इस संसार से अपने प्रस्थान का दिन प्रसन्नतापूर्वक बता देते। कुछ समय के लिए तो चिकित्सकों ने सोचा कि यह भावना किसी दवा के फलस्वरूप है। परन्तु कोई दवा न लेनेवाले रोगियों में भी यही बात दीख पड़ी। कुछ रोगियों की प्रतिक्रिया बड़ी विचित्र थी और वह मरणोत्तर अस्तित्व की ओर भी संकेत करती थी।

डॉ. रोज ने अमेरिकी लोगों के समक्ष स्पष्ट स्वर में 'मृत्यु के बाद जीवन' विषयक अपनी धारणा घोषित की और इस प्रकार उन्होंने विशेषज्ञों तथा संवाद-जगत् में एक विवाद खड़ा कर दिया। यद्यपि वे अपने अध्ययन के निष्कर्षों को प्रकट करने की इच्छुक न थीं, पर एक माता के भावुक प्रश्न के उत्तर में वे बोल उठीं, "यह विश्वास या अभिमत का प्रश्न नहीं है। मैं असंदिग्ध रूप से जानती हूँ कि मृत्यु के बाद जीवन है।"[१]

जब विवाद की गर्मी थोड़ी घटी, तो केनेथ वुडवर्ड नामक एक सज्जन डॉ. कुवलेयर रोज से मिले और 'मृत्यु के बाद के जीवन' के विषय में अधिक विस्तार से जानने की इच्छा व्यक्त की। डॉ. रोज ने वुडवर्ड के समक्ष एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन किया, जो तब तक उनकी किसी भी पुस्तक में प्रकाशित नहीं हुई थी। वह घटना इस प्रकार है –

मृत्यु के बाद फिर जी उठना

यह घटना अमेरिका के इण्डियाना अस्पताल में हुई थी। ४० वर्ष की एक महिला यकृत की गम्भीर बीमारी से पीड़ित थी। उसकी हालत खतरे में थी, पर किसी प्रकार उसमें सुधार आया। उसकी बीमारी फिर बढ़ी और आपातकालीन उपचार हेतु उसे अस्पताल मे भर्ती किया गया। एक दिन दोपहर में उसकी अवस्था बिगड़ने लगी। उसे साँस लेने में तकलीफ हो रही थी। एक नर्स डॉक्टर को बुलाने दौड़ पड़ी। तभी उस

रोगी को एक अद्भुत अनुभव हुआ। रोगी महिला ने देखा कि वह शरीर छोड़कर कमरे की भीतरी छत के नीचे एक बादल की भाँति तैर रही है। उसने नीचे शय्या पर अपना पड़ा हुआ शरीर भी देखा। उसने अपना पीला पड़ गया चेहरा भी देखा। परन्तु तब तक उसे उस अभूतपूर्व शान्ति तथा उन्मुक्तता के भाव का अनुभव हो चुका था। इस घटना का और भी विचित्र पहलू यह था कि वह महिला अपने शरीर को पुनर्जीवित करने के चिकित्सकों के अथक प्रयास को भी देख रही थी। उसे चिकित्सकों की बातें भी सुनाई दे रही थीं। चिकित्सक-दल के एक सदस्य ने थोड़ा हँसी-मजाक करके कुछ देर के लिए तनाव को दूर करने का प्रयास किया था। उस महिला ने चिकित्सकों को यह भी बताना चाहा कि उन्हें और अधिक प्रयत्न करने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि वह बिल्कुल ठीक-ठाक है। परन्तु तब तक उसकी श्वाँस तथा नाड़ी की गति रुक चुकी थी। रक्तचाप इतना घट गया था कि उसे मापा नहीं जा सका। मस्तिष्क में जीवन के कोई लक्षण नहीं दिखे। चिकित्सकों ने बताया कि वह मर चुकी है। पर कुछ घण्टों बाद वह बड़े विचित्र ढंग से जीवित हो गयी। उसके मस्तिष्क को कोई क्षति नहीं पहुँची थी। वह अगले १८ महीनों तक जीवित रही।

एक अमेरिकी श्रोतृवर्ग के समक्ष, जिसमें चिकित्सक, नर्से, मनो-वैज्ञानिक और पादरी लोग सम्मिलित थे, डॉ. रोज द्वारा परीक्षित इस घटना की सूचना दी गयी। डॉ. रोज के घोषित किये जाने पर कि वे इसे मानसिक भ्रम मानने को तैयार नहीं हैं, लोगों ने उनका मजाक उड़ाया। डॉ. रोज बोलीं, "चेतना लौटने पर उस महिला-रोगी ने जो कुछ कहा, वह सब सच था। हम इसे भ्रम कैसे कह सकते हैं? मैं इस चमत्कारिक घटना की सच्चाई पर विवाद नहीं कर सकती।" ऐसे सैकड़ों मामलों की अध्येता डॉ. कुवलेयर रोज ने घोषणा की, "मैं एक धार्मिक महिला हूँ, पर इस विषय में कट्टर नहीं हूँ।"

ऐसे ही अनुभवों वाले कई चिकित्सक तथा अन्य लोग भी ऐसी अद्भुत घटनाओं के बारे में लगातार लिखते रहे हैं।

इसमें ध्यान देने की बात यह है कि ऐसे अतीन्द्रिय अनुभव पानेवाले लोगों को मृत्यु का सामना करने के लिए असाधारण साहस और तत्परता प्राप्त हुई थी। वे बल्कि मृत्यु का दुबारा सामना करने को उत्सुक थे।[२]

देह यहाँ, पर देहधारी व्यक्ति अन्यत्र

अब यह बात भी सच है कि अनेक लोग वास्तविक अनुभवों या देहातीत अनुभूतियों को मस्तिष्क का भ्रममात्र या बहुत हुआ तो स्वप्न का सजीव रूप मानकर उसे नकार देते हैं। मनोचिकित्सक और तथाकथित बुद्धिजीवी लोग कई वर्षों से इन अतीन्द्रिय अनुभवों को इसी भाँति समझाने का प्रयास कर रहे हैं। लोगों का यह भी विश्वास था कि केवल दुर्बल और विकृत मस्तिष्क के लोगों को ही ऐसे अनुभव होते हैं। परन्तु आज कम-से-कम कुछ मनोवैज्ञानिकों को बोध हो रहा है कि यह दृष्टिकोण अनुचित है। अमेरिका के ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान विभाग ने अपने शोधों में इस विषय में यथेष्ट विवरण दिये हैं।

उनका कहना है कि अब वह समय आ गया है, जब हमे इस बात को स्वीकार कर ही लेना होगा कि मन मस्तिष्क से पृथक् है। एक अन्य अवधारणा, जिसे स्वीकार किया जा रहा है, यह है कि मन को नियंत्रित करके हम तंत्रिका-तंत्र और दैहिक क्रिया-कलापों को नियंत्रित कर सकते हैं। ऐसे भी संकेत हैं कि बहुत जल्दी ही वैज्ञानिक लोग इस प्राचीन सत्य को प्रमाणित करके स्वीकार कर लेंगे कि आत्मा शाश्वत है और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती।

टॉपेको, नासा के भूतपूर्व सैनिको के अस्पताल में मनो-चिकित्सा विभाग के प्रमुख स्टुअर्ट ट्वेम्लोव कहते हैं, "वैज्ञानिकों को यह परा-वैयक्तिक अनुभव स्वयं प्राप्त करना चाहिए।" उन्होंने स्वयं भी अनेक प्रयोगों के परिणामों के आधार पर ही इस सत्य पर विश्वास किया था। उनके कथन उनके नीजी अनुभवों पर आधारित हैं। उनका एक अनुभव इस प्रकार है –

"ट्वेम्लोव एक बार केंटुकी के एशटॉन प्रयोगशाला के एक सुसज्जित कक्ष में बैठे थे। उनका मस्तिष्क अल्ट्रासाउन्ड तरंगों द्वारा उत्प्रेरित किया गया था। वे अपने परा-वैयक्तिक अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं, 'मैं शरीर से पृथक् होते हुए मन को देख रहा था। मैं उसी अवस्था में द्रुतगति से एक अँधेरी सुरंग में चल पड़ा। कुछ ही पलों में मैं टोपेका के अपने घर में था। याद रहे कि उस प्रयोगशाला से मेरा घर करीब ४० किलोमीटर दूर है। मैंने देखा कि मेरी पत्नी पानी पीने रसोईघर में जा रही थी। इसके बाद वह अपने शयनकक्ष में चली गई। रात के लगभग ९-३० बजे का समय था। मैं कुछ देर उसकी बगल में खड़ा रहा, उसके बाद दर्पण के पास जाकर अपना प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा करने लगा। पर मुझे उसमें कुछ भी दिखाई नहीं दिया। कुछ ही मिनटों में मुझे बोध हुआ कि मेरी आत्मा पुनः मेरे शरीर में प्रविष्ट हो चुकी है।

"मैंने अपनी पत्नी को ये बातें नही बतायीं। ऐसे अतीन्द्रिय अनुभवों में उसका विश्वास ही नहीं था। बाद में, जब मैं घर गया, तो पत्नी खुद ही बताने लगी, "उस दिन जब आप केंटुकी में थे, तो मैं करीब ९-३० बजे रसोईघर में गई थी। फिर वहाँ से शयनकक्ष में लौटते समय लगा कि एक छाया मेरे पास, वहाँ आकर कुछ देर रुककर, दर्पण के पास जाकर स्थिर हो गयी और उसके बाद अन्तर्धान हो गया।"

इस प्रमाण और अन्य प्रयोगों के निष्कर्षों के आधार पर ट्वेम्लोव ने सीधे तथा साहसपूर्वक आत्मा के अस्तित्व पर बोलना शुरू कर दिया। आम तौर पर ऐसे विचारों वाले लोग हँसी-मजाक के पात्र बन जाते हैं। अत्यधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

से युक्त किसी देश में, वस्तुत: यह एक बड़ा साहसिक कदम था। ट्वेम्लोव अब भी सजग भाव से कहते हैं, "इस विचार का समर्थन करना तर्कसंगत है कि शरीर के बाहर भी जीवन का अस्तित्व रह सकता है।"

स्वप्न नहीं, बल्कि सच्चाई

ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनमें वैज्ञानिकों और गणितज्ञों ने अपनी समस्याओं का समाधान स्वप्न में पाया है। भारत के महान् गणितज्ञ रामानुजन् एक ऐसे ही व्यक्ति थे। ऐसी घटनाएँ सिद्ध करती हैं कि हमारी चेतना विभिन्न स्तरों पर क्रियाशील रहती है। विशेषज्ञों द्वारा परीक्षित एक अन्य घटना यों है –

अमेरिका के फ्लोरिडा के विंटर पार्क में एलीजाबेथ विल्सन नाम की एक ३० वर्षीया महिला रहती थी। उसने एक स्वप्न में सुप्रसिद्ध विशाल जलयान 'टाइटेनिक' के समुद्र में डूबने के भयंकर दृश्य को कई बार देखा और वह भय के मारे चिल्ला उठती थी। उसने स्वयं को कत्थई रेशमी वस्त्रों में जहाज के नृत्यालय में खड़े देखा। उसने स्पष्ट रूप से जहाज के हिलते हुए दीपाधार तथा एक प्रकाशमय कक्ष को देखा। ज्योंही वह अपने कमरे से निकलकर जलयान के बाहरी भागों तक पहुँची, उसे सागर के खारे जल की गन्ध मिली। उसने लोगों को जीवन-रक्षक नौकाओं में कूदते देखा। वह जलयान एक ओर झुक गया और लोगों की भयावह चीत्कारों के बीच डूब गया। वह स्वयं भी गहरे पानी में डूब गयीं।

जलयान के डूबते समय पल भर के लिए सर्वत्र अँधेरा छा गया। कुछ समय बाद उसने खुद को बॉस्टन में एक पार्क के निकट स्थित घर 'केंसिंग्टन' के सामने पाया। उस घर के पास उसे एक युवक भी खड़ा दिखा, जिसका चेहरा लम्बा तथा आँखें काली थीं। वह युवक उसका पति ही था। उसका स्वप्न यहीं समाप्त हो जाता था। उसने यह स्वप्न कई बार देखा।

वर्जीनिया विश्वविद्यालय के मनोचिकित्सा विभाग के अध्यक्ष डॉ. इयान स्टीवेंसन और उनके सह-शोधकर्ता अन्य जन्मों की स्मृतियों के बारे में शोध कर रहे थे। उन लोगों ने इस मामले में रुचि ली और जाँच-पड़ताल शुरू की। एलीजाबेथ फ्लोरिडा की निवासी थी और कभी बॉस्टन नहीं गई थी। स्टीवेंसन और उनके मित्रगण बॉस्टन गए। वहाँ उन्होंने एलीजाबेथ के देखे हुए स्वप्नों में वर्णित घर को खोज निकाला। उस घर का नाम केंसिंग्टन और रंग एलीजाबेथ के वर्णन के अनुरूप ही था। वहाँ वे लोग एक ८० वर्षीय व्यक्ति से मिले। उसका चेहरा लम्बा और आँखें काली थीं। वार्तालाप के दौरान उन लोगों ने उस व्यक्ति के जीवन के बारे में पूछा। सुनकर वे लोग विस्मित रह गए। उसने अपनी कहानी बताते हुए कहा कि किस प्रकार टाइटेनिक जलयान से घर लौटते समय उसकी युवती पत्नी खो गयी थी। इस दुर्घटना का वर्णन करते हुए उसने लम्बी साँस ली। उन लोगों ने उससे पूछा कि क्या उसके पास उसकी पत्नी का फोटोग्राफ है। उसने दराज से एक फोटो निकाल कर दे दिया। वे लोग भौचक्के रह गए। वह स्त्री मानो फ्लोरिडा की एलीजाबेथ की प्रतिरूप प्रतीत होती थी।

क्या उसकी वर्तमान मनोदशा और उसके पूर्ववर्ती जीवन की दुर्घटना के बीच कोई सूत्र दिखता है? कत्थई रंग को देखकर वह इतनी विक्षुब्ध क्यों हो जाती थी? उस सागर का नाम लेने मात्र से भयभीत क्यों हो जाती थी? क्या स्वप्न मानवीय चेतना के गहनतर सोपानों को देखने की एक खिड़की है? उसका स्वप्न सत्यापित हो सकनेवाले तथ्य पर आधारित था और यह पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

मृतक महिला का पुनर्जन्म

एंटोनी क्रैक्सी इटली के मिलान शहर के एक बड़े धनी व्यक्ति थे। वे अपनी पत्नी और १२ वर्ष की पुत्री के साथ अपने बँगले में सुखपूर्वक रहते थे। किसी ने उनकी सुन्दर तथा बुद्धिमान पुत्री का अपहरण कर लिया। उसे ढूँढ़ने के सारे प्रयत्न विफल रहे। अन्त में उसकी लाश मिली। सम्पत्ति, स्वास्थ्य, युवावस्था, सामाजिक प्रतिष्ठा के बावजूद इस दुर्घटना ने उन्हें तोड़कर रख दिया। वे इस आशा में भारत आए कि कोई आध्यात्मिक व्यक्ति उनकी मानसिक शान्ति बहाल करने में समर्थ होगा। कई तीर्थों में जाकर उन्होंने कई महात्माओं से भेंट की। अन्तत: उन्हें एक सन्त से आश्वासन मिला। जब उन्होंने अपनी दुर्दशा का वर्णन किया तो सन्त ने उत्तर दिया, "यह स्वाभाविक ही है कि माता-पिता अपनी सन्तानों को प्रेम और उनकी हित-कामना करें। पर मनुष्य द्वारा अनुभूत समस्त सुखों व दु:खों का कोई-न-कोई कारण होता है। कतिपय कार्य-कारण सम्बन्ध के कारण आपकी पुत्री को आपका प्रेम और संरक्षण मिला। अपने विगत जीवन के कर्म के फल से उसका जीवन चला गया। बालिका की देह भले ही चली गयी, पर उसकी आत्मा अब भी विद्यमान है। पुत्री के प्रति आपका प्रेम भी यथावत् है। ईशकृपा से वही बालिका कुछ वर्षों में आपके घर पुन: जन्म लेगी। चिन्ता मत करो।"

क्रैक्सी दम्पति शान्त और सन्तुष्ट हो गए। उन्होंने भारत में ही रह जाने का निश्चय किया। अपनी सम्पत्ति की देखभाल के लिये वे वर्ष में एक-दो बार इटली चले जाते। कुछ समय बाद उनके घर एक कन्या का जन्म हुआ। बाबा ने उन्हें दर्शन देकर कहा, "क्रैक्सी, इटली में खोई हुई बालिका अब तुम्हें मिल गई है।" उस कन्या की वाणी और व्यवहार पहली पुत्री के जैसा ही था। क्रैक्सी दम्पति बिल्कुल निश्चिन्त थे कि उनकी मृत पुत्री फिर उनके पास लौट आई है। ❖ (क्रमश:) ❖

---

१. अमेरिकी मासिक 'मैकगाल' के अगस्त, १९७६ अंक से उद्धृत।
२. पर आत्महत्या के पाप से आत्मा को अतीव दुख व पीड़ा मिलती है।

क्रोध का दोष

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हममें से भला कौन नहीं जानता कि क्रोध करना बुरा है, तो भी हम क्रोध के चगुल से बच नहीं पाते। क्रोध अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जो इच्छा की पूर्ति में बाधा आने से उत्पन्न होती है। यह वृत्ति केवल अन्तःकरण तक अपने को सीमित नहीं रखती, वरन् इसकी प्रतिक्रिया शरीर पर भी होती है। आँखें लाल हो जाती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं और शरीर थर थर काँपने लगता है। चेहरा तन जाता है और मनुष्य खूँखार दिखने लगता है। क्रोध धीरे धीरे विवेक पर पर्दा डाल देता है, जिससे बुद्धि उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाती। गीता के अनुसार क्रोध मनुष्य के विनाश का कारण होता है। वहाँ बताया गया है कि क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, जिससे भले-बुरे का विचार ढँक जाता है। इसे 'स्मृति-विभ्रम' कहकर पुकारा गया है। क्रोध के आवेश में हम भूल जाते हैं कि ये हमारे आचार्य हैं, पूज्य हैं, माननीय हैं। इस प्रकार के 'स्मृति-विभ्रम' से 'बुद्धिनाश' होता है। मनुष्य नहीं समझ पाता कि उसके लिए क्या करणीय है और क्या अकरणीय। फलस्वरूप वह नष्ट हो जाता है।

बचपन में कहानी पढ़ी थी कि एक महिला ने एक नेवला पाल रखा था, जो बड़ा ही स्वामिभक्त था। एक दिन अपने छोटे शिशु के पास नेवले को छोड़ वह पानी लेने कुएँ पर गयी। जब लौटी तो उसने देखा कि नेवला दरवाजे पर खड़ा हो उसकी ओर मुँह उठाकर अभ्यर्थना कर रहा है। नेवले का मुँह रक्त से सना देख महिला ने सोचा कि नेवला उसके छोटे बच्चे को मारकर खा गया है। उसने आव देखा न ताव, क्रोध के आवेश में पानी का घड़ा नेवले के सिर पर दे मारा। नेवले का तत्क्षण काम तमाम हो गया। महिला भागकर अपने बच्चे को देखने कमरे में घुसी, तो क्या देखती है कि उसका बच्चा नीचे जमीन पर बिछौने में पड़ा खेल रहा है और उसी के पास एक विषधर सर्प के तीन-चार टुकड़े रक्त में लथपथ हो पड़े हैं। महिला जान गयी कि नेवले ने ही उसके बच्चे की जान बचायी है। उसे अपनी धीरजहीनता और अविवेक पर बड़ी ही ग्लानि हुई, पर अब क्या हो सकता था।

यह क्रोध का परिणाम है। क्रोधावेश पैदा होने पर बुद्धि कुछ समझने से इनकार कर देती है। हमारी समूची चेतना तब क्रोध के रग में रँग जाती है।

कथा आती है कि जब कवि रामचरित लिख रहे थे, तो उन्होंने वर्णन किया कि राम-रावण युद्ध के समय लका में एक विशेष प्रकार के सफेद फूल खिले हुए थे। जब हनुमानजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने आपत्ति की और कहा कि फूल सफेद नहीं, लाल थे। पर कवि ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब बात श्रीराम तक गयी और कवि तथा हनुमान दोनों ने श्रीराम से इसका फैसला चाहा। राम बोले, "हनुमान ! कवि ने जो लिखा है, वही सत्य है। फूल सफेद ही थे। पर तुम तब क्रोधावेश में थे, इसीलिए फूल तुम्हें लाल दिख रहे थे !"

क्रोध से बचने का एक सार्थक उपाय यह है कि क्रोध आने पर उस स्थान का तुरन्त त्याग कर दे। दूसरा उपाय यह है कि उस समय अपने मन में ऐसे व्यक्ति का चित्र लाकर खड़ा कर ले जिसे वह सबसे अधिक प्यार करता है। तीसरा उपाय ऐसा है कि जब भी क्रोध की वृत्ति जागे, तो उस पर यह सस्कार डालने का अभ्यास करे कि 'अभी नहीं, कुछ देर बाद क्रोध की घटना पर विचार करूँगा।' इससे क्रोध का उफान धीरे धीरे दूर हो जायेगा और हम घटना पर उसके सही परिप्रेक्ष्य में विचार कर सकेंगे। हाँ, कभी कभी क्रोध इतना अचानक और तेज होता है कि बवडर-जैसा हमारे मन को छा लेता है। हमें उसका भान तब होता है, जब हम क्रोध कर चुके होते हैं और उसकी प्रतिक्रिया हो चुकी होती है। पर हमें निराश नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त तीन उपायों का धैर्यपूर्वक अभ्यास हमें धीरे धीरे क्रोध पर नियत्रण की शक्ति देगा।

पर यह स्मरण रहे कि क्रोध नहीं करने का तात्पर्य कायरता नहीं है। जहाँ किसी को सुधारने के लिए क्रोध करना जरूरी हो, वहाँ उसका प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। हमें केवल यही ध्यान रखना चाहिए कि हम क्रोध की वृत्ति को अपने वश में रखें, हम स्वय उस वृत्ति के वश में न हो जायें। हम काटने से तो परहेज करें, फुफकारने से नहीं। ❑ ❑ ❑

हितोपदेश की कथाएँ (१५)

('विग्रह' या युद्ध नामक तीसरे में था – कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। जम्बु द्वीप मे विध्य नाम के पर्वत पर रहनेवाले पक्षियो का राजा चित्रवर्ण नामक मोर ने उसे युद्ध की चुनौती दी। युद्ध हुआ और अपने मंत्री गिद्ध की सहायता से चित्रवर्ण को विजय प्राप्त हुई। वह किले से मिली सारी धनराशि लेकर जयघोष के साथ वापस लौट गया। 'सन्धि' नामक चौथे अध्याय में हमने देखा – राजधानी पहुँचकर चित्रवर्ण मोर ने अपने महामंत्री गिद्ध के सम्मुख अपने प्रधान गुप्तचर मेघवर्ण नामक कौए को कर्पूर द्वीप का राजा बनाने का प्रस्ताव रखा। परन्तु मंत्री ने कहा कि वह नीच है और इस पद के उपयुक्त नहीं है। – सं.)

इसके बाद राजा चित्रवर्ण ने कहा – "सुनिए मंत्री जी, मैंने सोचा है कि मेघवर्ण कौए को कर्पूरद्वीप का राजा बना देगें, तो वह वहाँ की सारी उत्तम वस्तुएँ हमें भेजता रहेगा और यहाँ विध्याचल में हम लोग बड़े सुख से उनका भोग करते रहेंगे।"

दूरदर्शी गिद्ध ने हँसकर कहा – "राजन्! जो व्यक्ति भविष्य की मधुर कल्पना करके सुख की आशा में प्रसन्न होता रहता है, वह कुम्हार का बर्तन फोड़ डालनेवाले ब्राह्मण की भाँति अपमानित होता है।"

राजा ने पूछा – "सो कैसे?"

मंत्री गिद्ध कहने लगा –

कथा ६

देवीकोट्ट नाम के नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। एक सतुआ-संक्रान्ति के अवसर पर उसे किसी यजमान से सकोरा भर सत्तू प्राप्त हुआ। वह उसे लेकर घर लौट रहा था। रास्ते में धूप से आकुल होकर वह एक कुम्हार के मण्डप के पास जाकर सो गया। इसके बाद वह सत्तू की रक्षा के लिए हाथ में डण्डा लेकर सोचने लगा – यदि मैं यह सकोरा भर सत्तू बेच दूँ, तो मुझे दस पैसे मिल जाएँगे। और उन पैसों से यहाँ घड़े-सकोरे आदि बर्तन खरीदने-बेचने से थोड़े ही दिनों बाद मेरे पास लाखों रुपये हो जाएँगे। जिससे मैं चार शादियाँ करूँगा। पत्नियों में से जो सबसे अधिक सुन्दरी और युवती होगी, उससे मैं विशेष प्रेम करूँगा। यदि वे सौतें आपस में लड़ेगी, तो मैं गुस्से में आकर उन्हें डण्डे से इस प्रकार पीटूँगा। यह कहकर उसने बड़े जोर से डण्डा पटका। जिससे उसके सत्तू का सकोरा तो चूर चूर हो गया और कुम्हार के भी बहुत-से बर्तन फूट गये। बर्तनों के फूटने की ध्वनि सुनकर कुम्हार भी आ गया। बर्तनों को टूटा देखकर उसने भी ब्राह्मण को बड़ा बुरा-भला कहा और वहाँ से भगा दिया। इसीलिए मैं कहता हूँ – 'जो व्यक्ति मधुर कल्पना ...' आदि।

अब राजा ने एकान्त में गिद्ध से कहा – "तात, अब मुझे बताइए कि मेरे लिए क्या करना उचित होगा?"

गिद्ध बोला – "अभिमानी एवं उद्धत राजा और मतवाला हाथी – जब ये कुमार्ग पर चलने लगते हैं, तो इनके पथ-प्रदर्शक (मंत्री और पीलवान) की निन्दा होती है।

"सुनिये स्वामी, क्या हम लोगों ने अपने बल से किला जीता है? या केवल आपके प्रताप या उपाय से।"

राजा ने कहा – "नहीं, एकमात्र आपके उपाय से।"

गिद्ध ने कहा – "यदि आप मेरी बात मानते हैं, तो अब अपने देश को लौट चलिए। नहीं तो वर्षा आ जाने पर यदि फिर युद्ध छिड़ गया, तो पराई धरती पर पड़े हुए हम लोगों के लिए स्वदेश लौटना भी कठिन होगा। इसलिए सुख और शोभा के निमित्त सन्धि करके लौट चलिए। किला जीत लिया और यश भी प्राप्त ही हो गया। मेरी तो यही सलाह है।

"क्योंकि – 'जो मंत्री राजा की प्रसन्नता या अप्रसन्नता देखे बिना उसके हित की बात कहता है, तो राजा को वह भले ही बुरा लगे, पर उसी से कल्याण होता है।' और – 'कौन ऐसा बुद्धिमान होगा, जो युद्ध में पड़कर मित्र, सेना, राज्य, स्वयं को और अपनी कीर्ति को संशयरूपी झूले पर डालेगा।'

और भी – 'समबल रहने पर भी संग्राम में विजय अनिश्चित रहती है। इसलिए सन्धि कर लेनी चाहिए। क्योंकि बृहस्पति ने कहा है कि जिस कार्य को पूरा होने में सन्देह हो, उसे नहीं करना चाहिए।'

और – 'युद्ध में कभी कभी दोनों पक्षों का विनाश निश्चित होता है। समान बल होते हुए भी सुन्द और उपसुन्द क्या आपस में लड़कर नष्ट नहीं हो गए थे?' "

राजा ने पूछा – "यह कैसे?"

मंत्री कहने लगा –

कथा ७

बहुत दिनों पहले बड़े उदार सुन्द और उपसुन्द नाम के दो दैत्य थे। उन्होंने तीनों लोकों का राज्य पाने की इच्छा से बहुत समय तक शिवजी की आराधना की। भगवान शंकर ने उन पर प्रसन्न होकर कहा – "वर माँगो।" उन दोनों की जिह्वा पर बैठी सरस्वती ने ऐसा कुछ कर दिया कि वे कहना कुछ चाहते थे, पर कह कुछ और ही गये। वे बोले – "यदि आप हम पर प्रसन्न हों, तो अपनी प्रियतमा पार्वती हमें दे दें।" इस पर शंकर जी क्रुद्ध तो हुए, पर अपना वचन पूरा करने के लिए उन मूर्खों को पार्वती दे दी। दोनों दैत्य पार्वती के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए। दोनों पापी उनके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित

होकर – 'यह मेरी है', 'मेरी है' – कहकर आपस में झगड़ा करने लगे। दोनों ने विचार किया कि कोई मध्यस्थ मिल जाय, तो उसी से फैसला करा लेना चाहिए। तभी शंकर जी स्वयं एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके वहाँ आ पहुँचे। उन दोनों ने जाकर ब्राह्मण देवता से कहा – "देखिए, हम दोनों ने अपने बल से इस स्त्री को प्राप्त किया है। अब आप ही बताइए कि यह हममें से किसकी होगी?"

ब्राह्मण ने कहा – "ब्राह्मणों में वह सबसे बड़ा माना जाता है जो ज्ञान में श्रेष्ठ हो, क्षत्रियों में वह सबसे बड़ा माना जाता है जो बल में श्रेष्ठ हो, वैश्यों में वह सबसे बड़ा माना जाता है जो धन-धान्य में श्रेष्ठ हो और शूद्रों में वह सबसे बड़ा माना जाता है जो सेवा में श्रेष्ठ हो। तुम दोनों क्षत्रिय हो, अत: तुम्हारे लिए तो युद्ध ही निर्णय का एकमात्र उपाय है। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर – 'यह ठीक कहता है' – यह कहकर वे समान बलवाले तत्काल प्रबल पराक्रम दिखाते और एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए दोनों मर गये। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'समबल रहने पर भी सन्धि कर लेनी चाहिए' आदि।

राजा चित्रवर्ण ने कहा – "तो आपने यह बात पहले ही क्यों नहीं कही?"

मंत्री गिद्ध बोला, "क्या उस समय आपने मेरी पूरी बात सुनी थी? उस समय भी मेरी राय से वह युद्ध शुरू नहीं हुआ था। राजा हिरण्यगर्भ सद्गुणी है। इसके साथ युद्ध करना ठीक नहीं है। कहा भी है –

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान्बली ।
अनेकयुद्धविजयी सन्धेयाः सप्त कीर्तिताः ।।

– 'सत्यवादी, आर्यधर्म के पालक, धर्मात्मा, अनेक अनार्य भाई-बन्धुओं वाले, अपने से प्रबल और जो अनेक युद्धों में विजयी रहे हों – ये सात शत्रु संधि के योग्य होते हैं।'

सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम् ।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ।।

– 'सत्यवादी शत्रु, सन्धि हो जाने पर सत्य का पालन करता है, वह अपनी बात से मुकरता नहीं। सभ्य पुरुष प्राण-संकट उपस्थित हो जाने पर भी, दुष्टता का आश्रय नहीं लेता।'

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ।।

– 'धर्मात्मा शत्रु पर जब चढ़ाई की जाती है, तो उसके साथ बहुत-से योद्धा आ मिलते हैं। उसके प्रजा-प्रेम तथा धार्मिकता के कारण उसे हराने में बड़ी कठिनाई होती है।' और 'विनाश आ जाने पर दुष्ट शत्रु के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए। बिना उसका सहारा लिए आर्य राजा अपना समय न बिताए।' और 'जैसे बहुत-से काँटों के घिरे हुए बाँस को काटने में बड़ी कठिनाई होती है, वैसे ही अनेक भाई-बन्धुओं से घिरे हुए शत्रु को परास्त करना कठिन होता है।' और फिर 'अपने से प्रबल शत्रु के साथ युद्ध करना उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मेघ कभी वायु के प्रतिकूल नहीं चलता।'

'अनेक युद्ध जीतनेवाला व्यक्ति जमदग्नि-पुत्र परशुराम की तरह सब जगह और सदा अपने प्रताप से ही राज्य भोगता है।' और 'अनेक युद्ध जीतनेवाले वीर राजा से सन्धि करनेवाला राजा भी उसी के बल से शीघ्र ही अपने शत्रुओं को वशीभूत कर लेता है।' इसलिए अनेक गुणों से अलंकृत यह राजहंस राजा हिरण्यगर्भ सन्धि कर लेने के योग्य है।"

हिरण्यगर्भ के गुप्तचर ने आगे कहा – "महाराज, इसी प्रकार चित्रवर्ण के मंत्री गिद्ध ने उसे बार बार समझाया।"

चकवा बोला – "गुप्तचर, तुम जाओ और घूमो-फिरो। मैं सब समझ गया। फिर आना।"

राजा ने चकवे से पूछा – "मंत्री, मैं जानना चाहता हूँ कि किस किस के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए।"

मंत्री बोला – "महाराज, कहता हूँ, सुनिए – बीस प्रकार के राजा सन्धि करने के योग्य नहीं होते – जो बालक हो, वृद्ध हो, अधिक दिनों का रोगी हो, जाति से बाहर किया हुआ हो, कायर हो, कायर सैनिकोंवाला हो, लोभी हो, जिसके मंत्री-सेवक आदि उससे उदासीन हों, जो विषय-लोलुप हो, जिसका चित्त चंचल तथा मत अस्थिर हो, जो देवताओं तथा ब्राह्मणों की निन्दा करता हो, जो भाग्य का मारा हो, जों भाग्य के अधीन रहता हो, जिसके यहाँ दुर्भिक्ष का डेरा पड़ा हो, जो सैन्यबल में निर्बल हो, जो बुरे स्थान में अनेक शत्रुओं वाला हो, जो समय का मूल्य न समझता हो और जो सच्चे धर्म से रहित हो।

इन बीस प्रकार के राजाओं से युद्ध करने में ही भलाई है। और युद्ध किये जाने पर ये शीघ्र ही वश में हो जाते हैं।

बालक का प्रभाव बहुत कम रहता है। इस कारण उसके सैनिक लड़ना नहीं चाहते। और फिर बालक युद्ध करने और न करने का लाभ भी नहीं समझ सकता।

वृद्ध और अधिक दिनों का रोगी निरुत्साह हो जाते हैं। इस कारण ये दोनों नि:सन्देह पराजित हो जाते हैं।

अपने कुल से बहिष्कृत राजा का उच्छेद अनायास हो जाता है। यदि उसके कुलवाले अपनी ओर मिला लिये जायँ, तो वे ही उसे नष्ट कर देते हैं।

कायर व्यक्ति युद्ध छोड़कर भाग जाता है। इसलिए वह स्वयं नष्ट हो जाता है और उसके साथी भी उसे छोड़ देते है।

लोभी व्यक्ति ठीक तरह से हिस्सा नहीं देता। इसलिए उसके अनुयाई नहीं लड़ते और उसके लोभी अनुयाई विपक्षियों से कुछ ले-देकर अपने स्वामी को ही मार डालते हैं।

जिस राजा के मंत्री-कर्मचारी आदि उसके प्रति उदासीन रहते हैं, वे युद्ध के समय उसे त्याग देते हैं। विषयों में अति आसक्त राजा सहज ही में परास्त किया जा सकता है।

जिस राजा का चित्त चंचल तथा मत अस्थिर होता है, वह अपने मंत्रियों द्वारा ही शत्रु माना जाता है और चंचल चित्त के कारण कार्य के समय लोग उसकी उपेक्षा करने लगते हैं।

धर्म सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। अत: देवता व ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाला और भाग्य का मारा व्यक्ति स्वयं ही मर मिटता है।

सम्पत्ति और विपत्ति देनेवाला एकमात्र भाग्य ही है – इस प्रकार केवल भाग्य के भरोसे रखनेवाला राजा ठीक ठीक प्रयत्न नहीं करता, इसलिए वह भी नष्ट हो जाता है।

दुर्भिक्ष का सताया हुआ शत्रु स्वयं दुखी रहता है और सैन्यबल में निर्बल शत्रु की सेना लड़ने में अशक्त ही होती है।

बुरे स्थान में पड़ा हुआ शत्रु थोड़ी सेना से भी परास्त हो जाता है। जैसे कि जल में पड़े हुए हाथी को छोटा-सा घड़ियाल भी खींच ले जाता है।

अनेक शत्रुओं वाला राजा बाजों के झुण्ड में फँसे हुए कबूतर के समान भयभीत रहता है। वह जिस रास्ते से जाता है, उसी में उस पर विपत्ति छायी रहती है।

जो राजा बिना समय का ध्यान रखे दूसरे राजा पर चढ़ाई कर देता है, वह समयानुसार युद्ध करनेवाले राजा से वैसे ही मारा जाता है, जैसे आधी रात के समय ठीक से दिखाई न देने के कारण कौआ उल्लू द्वारा मार डाला जाता है।

सत्य-धर्म से हीन राजा के साथ कभी सन्धि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सन्धि करके भी दुष्टता के कारण वह तुरन्त बिगड़ जाता है अर्थात् सन्धि के नियमों की रक्षा नहीं करता।

"और बातें भी कहता हूँ – सन्धि, युद्ध, चढ़ाई, समय की प्रतीक्षा, अपने से बली का आश्रय लेना और दुरंगी नीति ग्रहण करना – राजनीति के ये छह गुण होते हैं। काम प्रारम्भ करने का ढंग जानना, मनुष्य-धन-सम्पत्ति और देश-काल का विभाग जानना, विपत्ति टालने के उपाय जानना और कार्यसिद्धि – ये मंत्र के पाँच अंग हैं। उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति – ये तीन शक्तियाँ हैं। इन सभी बातों का विचार करके ही बड़े लोग शत्रु को पराजित करने की इच्छा करते हैं।

या हि प्राणपरित्याग-मूल्येनाऽपि न लभ्यते ।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलाऽपि प्रधावति ।।

– 'जो लक्ष्मी प्राण देने पर भी प्राप्त नहीं होती, वह चंचल होती हुई भी नीतिज्ञ राजा के पास स्वयं ही दौड़ी आती है।'

"कहा भी है, 'जो राजा अपने धन को अपने सेवकों में समान रूप से बाँट देता है, जिसके गुप्तचर तथा मंत्रणाएँ अत्यन्त गुप्त रहती हैं और जो किसी के प्रति कटु बातें नहीं कहता, वह समुद्रपर्यन्त भूमि का शासन करता है।'

"और यद्यपि उस महामंत्री गिद्ध ने सन्धि की बात कही है, तो भी चित्रवर्ण इस विजय के अभिमान से ऐसा नहीं करेगा। अत:, महाराज, आप ऐसा करिए। हमारा मित्र सिंहलद्वीप का राजा महा-बलवान सारस जम्बु द्वीप पर क्रोध दिखाए। क्योंकि 'विजय की इच्छा रखनेवाले को अपनी रक्षा का दृढ़ उपाय करके अपनी सुगठित सेना लेकर इधर-उधर घूमते हुए शत्रु को खूब पीड़ित करे, ताकि वह भी अपने ही समान सन्तप्त होकर सन्धि करने को राजी हो जाय, क्योंकि भलीभाँति गरम हो जाने पर ही दो लौहखण्ड जुड़ सकते हैं।"

राजा हिरण्यगर्भ ने कहा – 'ऐसा ही हो' – और विचित्र नाम का बगुले को गुप्तपत्र देकर सिंहलद्वीप भेज दिया गया।

इसके बाद गुप्तचर ने आकर सूचना दी – "महाराज, अब शत्रुपक्ष की जो परिस्थिति है, उसे सुनिए – वहाँ के महामंत्री गिद्ध ने कहा – 'स्वामी, मेघवर्ण वहाँ बहुत समय तक रह चुका है। इसलिए आप उससे पूछिए कि हिरण्यगर्भ में सन्धि करने योग्य गुण हैं या नहीं?' इसके बाद राजा चित्रवर्ण ने कौवे को बुलाकर पूछा – 'मेघवर्ण, वह हिरण्यगर्भ कैसा राजा है? और उसका मंत्री चकवा कैसे स्वभाव का है?'

कोए ने कहा – "महाराज, राजा हिरण्यगर्भ तो धर्मराज युधिष्ठिर के समान महान् हैं और उनके मंत्री चकवा जैसा मंत्री तो और कहीं दिखता ही नहीं।"

राजा ने कहा – "यदि ऐसा था, तब तुमने उसे धोखा कैसे दिया?"

मेघवर्ण ने हँसकर कहा – "महाराज, जिसके हृदय में विश्वास उत्पन्न करा दिया गया हो, उसे ठगने में कौन बड़ा कौशल है। जो अपनी गोद में आकर सोया हुआ है, उसे मारने में कौन बड़ा पुरुषार्थ है? सुनिए महाराज, उसके मंत्री ने पहली बार देखकर ही मुझे पहचान लिया था, पर राजा बहुत ऊँचे विचार का है। इसी से मैं उसे ठग सका। कहा भी है –

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्त्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा ।।

– 'जो व्यक्ति दुर्जन को भी अपने ही समान सत्यवादी समझता है, वह उसी प्रकार ठगा जाता है जैसे कि धूर्तों ने बकरा ले जाते हुए उस ब्राह्मण को ठग लिया था।' "

राजा ने कहा, "यह कैसे?"

मेघवर्ण कहने लगा –

❖ (क्रमश:) ❖

सच्चे सुख की खोज

स्वामी सत्यरूपानन्द

यदि कोई हमसे पूछे कि हम क्या चाहते हैं? यदि हम उसे विस्तार से बतायें कि हम क्या चाहते हैं, तो वह हमारी इच्छा पूरी कर देगा; तो हम सभी लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार एक लम्बी सूची पूछनेवाले के हाथों में थमा देंगे।

हम बहुत प्रकार की चीजें चाहते हैं। हम बहुत कुछ होना चाहते हैं। बनना चाहते हैं। यदि हम थोड़ा विचार करके देखें कि सब कुछ पाने या होने और बनने की इच्छा के पीछे हमारी प्रेरणा क्या है? हम वस्तुतः चाहते क्या हैं? विचार करने पर हम पायेंगे कि हम न तो वस्तु चाहते हैं, न धन-दौलत चाहते हैं, न व्यक्ति चाहते हैं, न नाम-यश आदि चाहते हैं। हम वस्तुतः 'सुख' चाहते हैं तथा हमें विश्वास रहता है कि वस्तु, व्यक्ति, धन, मान आदि मिलने पर हमें सुख मिलेगा। इसलिये हम उन चीजों को चाहते हैं।

हम कैसा सुख चाहते हैं? जो कभी कम न हो। सदैव बना रहे। दूसरे शब्दों में हम अनंत सुख चाहते हैं। अनन्त सुख भोगने के लिए हमें – सुख-भोक्ता को अनंत काल तक जीवित रहना आवश्यक है। अर्थात् हम अमर रहें। मान लीजिये हमें अनन्त सुख मिला, हम अमर भी हो गये किंतु यदि हमें उस सुख का, अपने अमर होने का ज्ञान न हो, उसका अनुभव न हो तो भी हमारे लिये वह व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये हम अनंत ज्ञान भी चाहते हैं। यदि हमें अपने अनंत सुख और अमरता की अनुभूति न हो तो हम दुखी हो जायेंगे। हमें सुख की अनुभूति अवश्य होनी चाहिये।

इस विश्लेषण से यही सिद्ध हुआ कि हम अनंत सुख अनंत ज्ञान और अनंत जीवन चाहते हैं। वेदान्त दर्शन हमें बताता है कि यह सब, अनंत ज्ञान, अनंत जीवन, अनंत सुख हमारे भीतर ही है। वह हमारा मूल स्वरूप ही है। वेदान्त की भाषा में उसे सत्-चित्-आनंद कहते हैं।

प्रश्न उठता है यदि सत्-चित्-आनन्द हमारा स्वरूप है तो हमें उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती? हमें उसकी अनुभूति इसलिए नहीं होती, क्योंकि हम उसे अपने भीतर न ढूँढ़ कर बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं। हम अपने भीतर कभी नहीं झाँकते। भीतर कभी नहीं ढूँढ़ते। इसलिये हमारे भीतर रहते हुए भी हम उस सुख से वंचित हैं।

इस अनंत सुख को पाने की पहली शर्त यह है कि हम बाहर से दृष्टि हटा कर अपने भीतर, अपने हृदय में दृष्टि डालें। आत्म-निरीक्षण करें। अपने गुण-दोषों से परिचित हों। अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करें। अनावश्यक तथा अनुचित आदतों को छोड़ें। बाहर भटकना बंद करें। उसी प्रकार अपने गुणों को भी पहचानें। उनका विकास करें। जिन गुणों की हममें कमी हो उसे अर्जित करें। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि हमारे व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता जा रहा है। हमारे अंतःकरण में सोई हुई शक्तियाँ जागने लगी हैं। जिस सुख की आशा में हम आज तक बाहर भटक रहे थे उस सुख का झरना हमारे हृदय में फूट रहा है। हमारी व्यर्थ की इच्छायें, निरर्थक बाहर भटकना अपने आप छूटता जा रहा है। अनायास हमारे भीतर असीम सुख और अखण्ड शांति का स्फुरण हो रहा है।

मित्रो, हमें यह ठीक से समझ लेना होगा कि हम जो कुछ भी चाहते हैं वह सब हमारे भीतर ही है। अपने अज्ञान के कारण हम उसे भूल गये हैं तथा व्यर्थ ही उसे बाहर ढूँढ़ते फिर रहे हैं। जब तक हम उसे बाहर ढूँढ़ते रहेंगे वह हमें कभी नहीं मिलेगा। उल्टे हम उससे अधिक अंधकार में ही भटकते रह जायेंगे। परिणामस्वरूप हमारे मन में भयंकर अशांति और दुख व्याप्त हो जायेगा।

शांति का आगार हमारे भीतर है। भीतर की ओर मुड़ें। भीतर अपने आप में डुबकी लगायें और हम पायेंगे कि हम स्वयं ही आनंद स्वरूप हैं। ❑

मानवता की झाँकी (६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

पिल्लै महाशय

सुदूर कन्याकुमारी की बात है। भारत-माता के श्रीचरण-स्वरूप यह स्थल अपूर्व सौन्दर्य से शोभित है। हिन्द महासागर, अरब-सागर तथा बंगाल की खाड़ी – इन तीनों का संगम-स्थल कन्याकुमारी एक पवित्र तीर्थ होने के कारण धर्मप्राण भारतवासी इसके दर्शनार्थ जाते हैं। परिव्राजक संन्यासी भी भ्रमण करता हुआ उधर जा पहुँचा और त्रिवांकुर (त्रिवेन्द्रम्) राज्य की धर्मशाला या अतिथि-निलय में ठहरा। राज्य के एक धर्मनिष्ठ आफिसर ने बड़े प्रेम से ठहरने तथा नित्य भिक्षा का भी बन्दोबस्त कर दिया था, अत: संन्यासी उस विषय में निश्चिन्त होकर वहाँ का पवित्र आनन्द उपभोग करने लगा। पर जो ब्राह्मण सुबह कॉफी, दोपहर को भोजन और फिर रात में कॉफी दे जाते थे, कभी कभी उनके अन्य पुरोहिती के कार्यों में अधिक समय लग जाने से काफी देर हो जाया करती, ढाई-तीन बजे भोजन आता और सुबह की कॉफी नौ-साढ़े नौ या दस बजे तक पहुँचती, परन्तु रात में खास देरी नहीं होती थी। इससे असुविधा का बोध होने पर भी संन्यासी इसे चुपचाप सह लेता, क्योंकि हाथ में दूसरा कोई उपाय भी तो न था।

एक दिन तो करीब बारह बजने लगे, तो भी कॉफी नहीं आयी। संन्यासी जिस कमरे में ठहरा था, ठीक उसके सामने ऑगन के उस पार एक कमरे में एक वृद्ध दम्पति पहले से ही रहते थे। पर उनका अलग भाव देखकर संन्यासी ने उनसे परिचय करने की चेष्टा नही की थी। वे भी कोई बातचीत या चर्चा करने नहीं आए थे। उस दिन उन वृद्ध सज्जन ने आकर कहा – "मेरी सहधर्मिणी कह रही है कि अभी बारह बजने को आ गये और स्वामीजी के लिए कॉफी नहीं लाया। क्या बात है, क्यों नहीं लाया? वह ब्राह्मण हर रोज बड़ी देरी करता है, पर आज तो हद कर दी। आपको भूख तो लगी होगी। सच कहे तो यह कॉफी का नहीं, बल्कि भोजन का समय है।" – "हाँ, पर पता नहीं, वह क्यों नहीं आया! शायद किसी खास काम से रुक गया हो या फिर तबीयत खराब होगी। वह घर में अकेला है, उसका पिता वृद्ध है और मन्दिर में काम करने से यह काम नही कर पाता।"

– "उसके घर का आपको पता है?"

– "ना, कभी गया नही, और पता नहीं होने पर भी इस समय तो वह मिलता नही, पुरोहिती करता है, इसलिए कहीं काम में लगा होगा।"

वह वृद्ध अपने कमरे में गया और पत्नी से बातचीत करके फिर आया। (हाथ जोड़कर) "तो स्वामीजी, मेरी सहधर्मिणी कह रही है कि यदि आप अनुमति दें, वह स्टोव, बर्तन आदि अच्छी तरह धो-माँजकर आपके लिए कॉफी तैयार कर दें। ... कुछ तो होना चाहिए, अब तो बारह बज चुका है।"

– "बड़ी खुशी से कॉफी करें, मुझे कोई बाधा नहीं है।" यह सुनकर वृद्ध आनन्द में आ गया दौड़ता हुआ अपने कमरे में पहुँच गया। वृद्धा माता ने स्टोव आदि धोकर कॉफी तैयार करके सूचना भेजी – "कॉफी तैयार है, आज्ञा हो तो वहाँ ले आयें और यदि आप इधर ही पधारें तो और भी अच्छा रहे।"

संन्यासी वृद्ध के साथ चला। खूब भूख लगी थी, वे बड़े प्रेम से गरम गरम कॉफी देती गयीं, संन्यासी प्रेम से दो-तीन कॅप पी गया।

– "यदि अनुमति दें, तो अभी अभी इडली बनाई है (एक प्रकार का नाश्ता, जो चावल व दाल को पीसकर भाप में पकाकर बनाया जाता है, बड़ी अच्छी चीज है, बीमार आदमी को भी दिया जाता है, हल्का होने से जल्दी पच जाता है) और चटनी भी तैयार है, आपको परोसें?"

– "बड़ी खुशी से, इडली तो बड़ी अच्छी चीज है।" – यह सुनते ही वृद्धा आनन्दित हुईं और एक थाली में ४-५ इडलियाँ तथा चटनी दे दीं। खूब स्वादिष्ट बनी थी, संन्यासी कॉफी के साथ खाता गया और इधर-उधर की – देश-भेद से भोजन बनाने के तरीके में भेद आदि पर सामान्य बातें करता गया। ७-८ इडलियो के साथ वह ४-५ कप कॉफी भी साफ कर गया। उसने देखा कि वृद्ध दम्पति आँसू बहा रहे हैं।

"क्यों मुझे बहुत भूख लगी थी, इसलिए क्या?" – संन्यासी ने ऐसा सोचकर कहा – "संन्यास आश्रम का यह जीवन ऐसा ही होता है कि कभी समय पर खाने को मिलता है और कभी असमय हो जाता है। कभी तो कुछ भी नही मिलता। भूख-प्यास से कष्ट तो होता ही है, पर सहन करना पड़ता है। भोजन के मामले में पराधीनता जो है। और आप तो जानते ही है, पराधीनता चाहे जिस रूप में भी हो, दु:खमय ही हुआ करती है; परन्तु सुख होता है तो वह केवल मानसिक ही होता है, मन मे तो वह स्वतंत्र बादशाह हुआ करता है।"

वृद्ध ने कहा – "स्वामीजी, यह बात ठीक है, पर हमारी तो इस समय जीवन की एक अपूर्ण कामना पूरी हो रही है। हम पिल्लै हैं, ब्राह्मण या संन्यासी हमारे हाथ से अन्न नहीं

स्वीकार करते, वे हमें शूद्र मानते हैं, पर हम अपने को क्षत्रिय समझते हैं। अपने हाथ से बनी रसोई अपने हाथ से परोसकर संन्यासी को खिलाने की (गृहिणी को संकेत करके) इनकी इच्छा अब तक अपूर्ण रह गयी थी, आज ईश्वरानुग्रह से वह पूर्ण हुई, इसलिए आत्मिक प्रसन्नता व आनन्द से हमारा दिल भर आया है और हम अपने आँसू रोक नहीं पा रहे हैं।'' (श्री पिल्लै एक सेवानिवृत्त पुलिस-अधिकारी थे।)

सुनकर संन्यासी का दिल भर आया और अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ बोला, ''ऐसा क्यों? संन्यास लेते समय तो जात-पात सब छोड़ने के संकल्प के साथ अग्नि में आहुति देनी पड़ती है, फिर उसी को पकड़े रखा जाय! हाँ, शुचि-अशुचि का विचार त्याज्य नहीं है, स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है। शुद्धता और सफाई के साथ यदि कोई अन्न पकाए, तो संन्यासी के लिए सत्शूद्रों अर्थात् शुद्ध संस्कारयुक्त शूद्रों के हाथ से खाने में दोष नहीं हो सकता। वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो देखने में आता है कि उन दिनों सूपकार सब शूद्र ही हुआ करते थे। खैर, यह विवाद का विषय होने से इसे छोड़ देते हैं, परन्तु व्यक्ति यदि शुद्ध संस्कारी है और यदि भगवद्भक्त तथा धर्म-परायण है, तो मनुष्यमात्र में हम भेद नहीं रखते। अन्न आदि खाद्य सप्रेम स्वीकारते हैं और प्राप्त अन्न 'ब्रह्मार्पणम्' करके सादर ग्रहण करते हैं। इससे यदि अनजाने में कोई अशुद्धियाँ भी हो गयी हों, तो शास्त्र व आचार्य के निर्देशानुसार शुद्धीकरण हो जाता है। फिर सब कुछ संस्कार तथा विचार-संभूत मानसिक स्थिति पर निर्भर है। हिन्दुओं में बहुत से अवैदिक संस्कार घुसे हुए हैं, जिन्हें वेदानुकूल और ऋषि जीवन में प्रदर्शित आचार-विचार के द्वारा पुनः परिशुद्ध करने की जरूरत है। ऐसा होने पर भारतवासी पुनः अधिक गौरवयुक्त होंगे।''...

– ''(हाथ जोड़कर) तो स्वामीजी, प्रतिदिन हमारे यहाँ कॉफी पीजिए। आप जब से आए हैं। देर से कॉफी तथा भोजन लाते देखकर हम दोनों को बड़ा दुख होता था। मेरी गृहिणी तो बारम्बार कहा करती थी – वह ब्राह्मण इतनी देर करता है, अहा, स्वामीजी को कितना कष्ट होता होगा! पर भय तथा संकोच के मारे हम आपसे कुछ कह नहीं पाते थे, आज आनन्द हो गया, अब मन में सन्तोष है।''

और उनके नेत्रों से धर धर अश्रुधारा बह चली।

इसमें थी धार्मिक भावना के साथ मानवता की सुन्दर झाँकी।

कानकटैया दरिद्र-नारायण का सेवक बना

मध्य कलकत्ते के किसी मुहल्ले में एक आदमी रहता था, जो कद में छः फुट ऊँचा और पतला था, पर कुश्तीबाज और दौड़-भाग में एक नम्बर था। कुछ काम नहीं करता था। बाप-दादा एक मकान छोड़ गए थे, उसी के भाड़े से गुजारा चला लेता। दिन भर चौपड़ व तास खेलना और गुण्डागिरी करना ही उसकी दिनचर्या थी। शादी नहीं की थी, इसलिए बिल्कुल बेपरवाह था। बात बात में क्रोधित हो जाता और सामना करने वाले का कान काट लेता। उसने ऐसे सैकड़ों केस किए थे, परन्तु न जाने किस चालाकी से वह जेल से बाहर आ जाता। कभी गया भी होगा तो दो-चार महीने के लिए और लौटकर जेल भेजनेवाले की तो हालत खराब कर दी होगी।

एक बार उसी मोहल्ले के पास में कालीमाई की पूजा हो रही थी। उसके आयोजकों में संन्यासी के परिचित कई लोग थे और उस उपलक्ष्य में दरिद्र-नारायण की सेवा अर्थात् गरीबों को भोजन भी कराया जानेवाला था। यह सब बताकर संन्यासी को भी आग्रहपूर्वक उसमें भाग लेने को आमंत्रित किया गया था, जिसे स्वीकार कर वह वहाँ आ पहुँचा था। यह पूजा रात में होती है और सारी रात चलती है। आयोजकों में से एक जन ने आकर संन्यासी से कहा – ''देखिए, काली मैया ही रक्षा करे तो ठीक! वह जो लम्बा-सा आदमी खड़ा है, इसको हम कानकटैया कहते हैं। यह बात बात में लोगों के कान काट लेता है और भाग जाता है। सब इससे डरते रहते है। आज सारी रात पूजा होगी। युवकगण मौज-मस्ती कर रहे हैं, यदि किसी ने इसे कोई जरा भी छेड़ दिया, तो समझ लो कि काम हो गया, यह जरूर उसका कान काट लेगा।''

संन्यासी यह सुनकर बड़ी चिन्ता में पड़ गया – ''अरे, ऐसा होने से तो बड़ा विघ्न हो जाएगा।'' फिर कुछ सोचकर उसे अपने पास बुलवाया और मधुर वाणी से सन्तुष्ट करके कहा, ''आप जरा ख्याल रखिएगा, पूजा में कोई विघ्न न पड़े। लड़के-बच्चे सब मस्ती कर रहे हैं। यदि कोई भूल-चूक हो जाय, तो सँभाल लीजिएगा। आप तो सबको पहचानते हैं, आपकी निगरानी से सब काम शान्ति से निपट जाएगा।''

कानकटैया समझ गया कि संन्यासी उसे क्यों ऐसा कह रहे हैं। उसने हँसकर कहा, ''आप बेफिक्र रहिए, मेरे द्वारा कोई अशान्ति नही होगी।''

सबको भरोसा था कि जब उसने वचन दे दिया, तो जरूर पालन करेगा। सुबह पूजा समाप्त होने के बाद सब लोग प्रसाद ले-लेकर चले गए, रात में एक बार कानकटैया चला गया था, बाद में आकर चुपचाप बैठा था, अतः शान्तिपूर्वक सब काम निपट गया था। दिन उगने के थोड़ी देर बाद पुलिस आई और कानकटैया की तलाश करने लगी।

– क्यों क्या बात है?

– कल रात को उसने एक आदमी का कान काटा है।

– अरे वह यहाँ तो सुबह तक शान्ति से बैठा था, पर हाँ बीच में एक बार चला गया था, पता नही क्या किया।

शाम को कानकटैया हाजिर हुआ। संन्यासी ने कहा, "आपके चले जाने के बाद आपकी तलाश में पुलिस आई थी और कान काटने की फरियाद सुनाई। बात सच है क्या?"

– "सच है। इधर मैंने कुछ नहीं किया था, वह तो ऐसा हुआ कि रात में मैं अपने घर की तरफ चला, तो उस तरफ की सड़क से एक आदमी खूब छाती फुलाकर चल रहा था। हट्टा-कट्टा कुश्तीबाज आदमी लगता था, पर मुहल्ले के बीच से ऐसे छाती फुलाकर जाये, यह मुझसे कैसे बरदास्त हो ! मैंने कहा – 'क्यों जी, ऐसे छाती फुलाकर क्यों चलते हो, यह तो तुम्हारा मुहल्ला नहीं है।' उसने और भी ज्यादा फुलाकर कहा – 'मौज है, चलूँगा।' तब मुझसे रहा नहीं गया। उसका कान काट लिया। यह रहा कान। ऐसे तो मैंने बहुत काटे हैं, पुलिस मुझे जानती है, दो-चार रोज ढूढ़ेगी, बस।"

संन्यासी ने सोचा – इस आदमी से इस विषय में चर्चा न करना ठीक है, शान्ति से काम लेना पड़ेगा।

उससे पूछा – "क्यों जी, आप कोई धन्धा, नौकरी या रोजगार के लिए कोई काम नहीं करते क्या?" ...

– "नहीं जी, अपना मकान है, किराया मिलता है, बस उसी से गुजारा चल जाता है। मेरी अम्मा और मैं – बस और कोई नहीं, जो मिलता है वही काफी है।"

– "तो इसका मतलब आप अपनी इच्छानुसार समय का उपयोग किया करते हैं ! ... देखिए, मैं देखता हूँ कि इस मुहल्ले में गरीबों की बस्ती है। लोग बहुत गरीब हैं, मुश्किल से गुजारा करते हैं। यदि कोई बीमार हुआ, तो बड़ा परेशान हो जाता है। दवाई के लिए अस्पताल जाए, तो भी डॉक्टर घण्टों बैठा रखते हैं, अच्छी तरह से देखते भी नहीं, गरीब होने के कारण तुच्छता की दृष्टि से देखते हैं। पहले इस देश में गरीब होना अपराध नहीं माना जाता था, परन्तु यूरोपीय भाव खूब प्रसार हो जाने से अब गरीबी को गुनाहों में शामिल कर लिया गया है। इसलिए यदि आप, जो कोई बीमार हो, असहाय हो, उसकी जरा सेवा करें या उस पर जरा हमदर्दी दिखाएँ, तो वह उपकृत होकर सदा कृतज्ञ रहेगा और आपको देवतुल्य समझेगा। इसमें तो आपको शायद कुछ खर्च करने की भी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। केवल समय खर्च करना होगा और वह तो आपके पास बहुत है। स्वामी विवेकानन्द जी दरिद्र-नारायण-सेवा की बात कह गए हैं और आपके द्वार पर ही जो गरीब भाई हैं, उनके प्रति जरा दयादृष्टि रखकर कुछ ऐसी सेवा कर सकें, तो बड़ा अच्छा होगा। आप तो समर्थ हैं, केवल इधर जरा दृष्टिपात करेंगे, तो लोग खूब उपकृत होंगे।"

– 'जी हाँ, यह काम तो मैं आसानी से कर सकता हूँ। इस मुहल्ले में डॉक्टर हैं, उनसे भी सेवा करवा सकता हूँ, वे सब मुझे भलीभाँति जानते हैं (जरा मुस्कराया)। मैं आपको वचन देता हूँ कि आज से यह काम अवश्य करूँगा। आज तक मुझे किसी ने इस तरह से कहा नहीं था, अब मैं समझ गया हूँ, अधिक बोलने की जरूरत नहीं है।"

– "बहुत अच्छा, मुझे विश्वास है कि आप अपना वचन जरूर पालेंगे। सुबह-शाम तो आप चक्कर देते ही रहते हैं, अब जरा पूछते जाइयेगा और आवश्यक मदद देकर मानवता-प्रदर्शन का काम करियेगा। आपके करने से देख-देखकर और लोग भी सीखेंगे, क्यों जी?"

– "जी हाँ, यह काम तो बड़ी खुशी से करूँगा, मुहल्लेवाले सब मुझे पहचानते हैं, इसलिए सहज से यह काम हो जाएगा।"

कई वर्ष बाद संन्यासी का पुनः उसी मुहल्ले में जाना हुआ, तब परिचित स्नेही मिले और बताया – वह कानकटैया तो अब गरीब बस्तीवालों के पास से देवतुल्य सम्मान पाता है। कोई बीमार हो, तो मालूम होते ही वह आधी रात में भी डॉक्टर बुलाकर इलाज की व्यवस्था कर देता है और क्या मजाल कि कोई डॉक्टर न कह दे। कान जाने के डर से, भले आदमी की तरह बुलाते ही सब हाजिर हो जाते हैं। पैसा दिया या नहीं दिया, डर के मारे कोई माँगता भी नहीं है। गरीब लोग तो आशीर्वाद देते रहते हैं। उन लोगों का खूब कल्याण हुआ। कोई मर जाने से कानकटैया सत्कार की व्यवस्था कर देता है और अगर उठानेवाला नहीं मिला, तो स्वयं कन्धे पर उठाकर ले जा सत्कार कर आता है।

समाचार मिलते ही कानकटैया भी हँसते-मुँह प्रफुल्ल-वदन आ मिला और विनयपूर्वक बैठ गया। संन्यासी ने कहा – "मुझे रिपोर्ट मिली है, बहुत आनन्दित हुआ हूँ, ऐसा ही चाहिए, धन्य हो आप !"

कानकटैया ने केवल इतना ही कहा – "मुझे मानवता का पवित्र मार्ग बताकर आपने हमेशा के लिए ऋणी किया है। इसी में मुझे अपने जीवन की सफलता दीख पड़ी है, आशीर्वाद दीजिए कि मेरी बुद्धि इस सेवा-कार्य में स्थिर रहे।"

❖ (क्रमशः) ❖

गुरु की आवश्यकता

अमित व्यास, जोधपुर

मनुष्य योनि पाने के बाद व्यक्ति अपना प्रत्येक व्यवहार किसी-न-किसी के मार्ग-दर्शन से ही निर्धारित करता है, परन्तु यदि वह आध्यात्मिक उन्नति करना चाहता है, तो वहाँ इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। उस समय उसे सद्‌गुरु से ही ज्ञान का प्रकाश मिलता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "यदि कोई मनुष्य गुरु के रूप में तुम्हारा चैतन्य जागृत कर दे, तो जानो कि सच्चिदानन्द ने ही वह रूप धारण किया है।" वे यह भी कहते हैं, "गुरु एक ही होता है, पर उपगुरु कई हो सकते हैं, जिस किसी से कुछ सीखा जाए, उसे उपगुरु कहा जा सकता है। अवधूत ने चौबीस उपगुरु किए थे।"

अब प्रश्न यह उठता है कि एक ही गुरु से शिक्षा क्यों ग्रहण की जाए? इसकी आवश्यकता समझाते हुए श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "जिन जिन के निकट कोई शिक्षा प्राप्त हो उन सभी को गुरु न कहकर एक निर्दिष्ट व्यक्ति को ही गुरु कहने की क्या आवश्यकता है? किसी अनजान जगह जाना हो तो जो रास्ता जानता है, ऐसे किसी एक व्यक्ति के निर्देशानुशार ही जाना चाहिए। अनेक लोगों से रास्ता पूछते रहने पर गड़बड़ी हो जाती है। वैसे ही ईश्वर के निकट जाना हो तो, एक अनुभवी गुरु के निर्देशानुसार चलना चाहिए। इसलिए एक गुरु का प्रयोजन है।"

शिष्य अथवा साधक स्वयं अष्ट पाशों में बँधे रहते हैं, उससे वह मुक्त कैसे हो सकता है? इससे मुक्त वही कर सकता है, जो स्वयं मुक्त हो। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "जो स्वयं शतरंज खेलते हैं, वे बहुत समय नहीं समझ पाते कि कौन सी चाल ठीक होगी, परन्तु जो तटस्थ रहकर खेल देखते रहते हैं, वे खेलने वालो की चाल से अच्छी चाल बता सकते हैं। संसारी लोग सोचते है कि हम बड़े बुद्धिमान हैं, परन्तु वे धन, मान, विषय, सुख आदि में आसक्त रहते है, वे स्वयं खेल में डूबे डूबे रहते है, ठीक चाल नही समझ पाते, परन्तु संसार त्यागी साधु, महात्मा विषयों से अनासक्त होते है। वे संसारियों से अधिक बुद्धिमान होते हैं। वे खुद नहीं खेलते, इसलिए अच्छी चाल बता सकते हैं। इसलिए धर्म-जीवन यापन करना हो तो साधु, महात्मा ईश्वर का ध्यान-चिन्तन करते है, जिन्होंने उन्हे प्राप्त कर लिया है, उन्ही की बातों पर विश्वास रखकर चलना चाहिए। यदि तुम्हें मामला-मुकदमे की सलाह चाहिए तो तुम वकील की ही सलाह लोगे न कि किसी ऐरे-गैरे की।"

इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए एक ही सद्‌गुरु द्वारा दिए गए आदेशों को मानना होगा। दिशा-निर्देश करनेवाले आचार्य भी तीन प्रकार के होते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "वैद्य भी तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। जो वैद्य आकर सिर्फ रोगी की नाड़ी देख दवा बताकर, 'यह दवा लेना जी' – कहकर चला जाता है, रोगी ने दवा ली या नहीं, इसकी कोई खबर नही लेता है, वह अधम वैद्य है। इसी तरह कुछ आचार्य केवल उपदेश दे जाते है, शिष्य उसका पालन करता है या नहीं, इसकी खबर नही लेते। दूसरी श्रेणी के वैद्य रोगी को केवल दवा लेने के लिए तरह तरह से समझाते-बुझाते हैं। ये मध्यम श्रेणी के वैद्य हैं। वैसे ही जो आचार्य शिष्यो के हित के लिए उन्हें बार बार प्रेम से समझाते हैं, जिससे वे उपदेशों की धारणा कर सकें और तदनुसार चल सकें, वे मध्यम श्रेणी के आचार्य हैं। अन्तिम श्रेणी के और उत्तम वैद्य वे हैं, जो यदि रोगी मीठी बातों से न माने तो बल का भी प्रयोग करते हैं। उसी तरह उत्तम श्रेणी के आचार्य शिष्य को ईश्वर के पथ पर लाने के लिए आवश्यक हो तो बल तक का प्रयोग करते हैं। गुरु अपने शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अग्रसर रहते है।"

एक दिन श्रीरामकृष्ण भक्तों से बाते कर रहे थे। एक ने पूछा, "महाराज, परमार्थ साधन मे क्या गुरु अत्यन्त आवश्यक है? क्या गुरु के बिना काम चल ही नही सकता? श्रीरामकृष्ण, "क्यों नही चल सकता? गुरु के बिना भी साधक अपने ध्येय को प्राप्त कर सकता है। अन्तर केवल यही है कि सद्‌गुरु की सहायता रहने पर उसका मार्ग बहुत कुछ सुगम हो जाता है।"

ऐसी बातें हो रही थीं कि श्रीरामकृष्ण को सामने गंगा में से एक जहाज जाता हुआ दिखा। उस व्यक्ति की ओर उन्मुख हो वे बोले, "बताओ तो, यह जहाज चिनसुरा कब पहुँचेगा?"

वह बोला –"मै समझता हूँ शाम को लगभग पाँच-छह बजे तक पहुँच जाएगा।"

श्रीरामकृष्ण – "उस जहाज के पीछे एक छोटी से डोंगी भी रस्सी से बँधी है, देखा न? वह भी उस जहाज के साथ ही शाम को चिनसुरा पहुँच जाएगी। ठीक ह न? पर मान लो यदि रस्सी खोलकर डोंगी अलग चलाई जाय, तो वह चिनसुरा कब पहुँचेगी, जरा बताओ तो?"

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया – "तब तो वह डोंगी कल सबेरे से पहले नहीं पहुँच सकेगी।"

श्रीरामकृष्ण – "इसी तरह साधक यदि अकेले ही ईश्वर-दर्शन के मार्ग मे अग्रसर हो, तो भी उसे ईश्वरप्राप्ति होगी, पर उसे समय लगेगा। पर वह यदि सौभाग्य से सद्‌गुरु की सहायता पा ले, तो यह लम्बी यात्रा थोड़े ही समय मे पूर्ण कर लेगा, समझ गए न।" ❏ ❏ ❏

हमारी संस्कृति में तीर्थों का महत्त्व

स्वामी आत्मानन्द

हमारी संस्कृति में तीर्थों की जो परिकल्पना की गयी है, उसमें धार्मिक और आध्यात्मिक तत्त्व तो निहित हैं ही, साथ ही राष्ट्र को एकत्व के सूत्र में जोड़ने के महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसके भीतर छिपे हुए हैं। हमारी सस्कृति मानव-जीवन को निष्प्रयोजन नहीं मानती, अपितु एक स्पष्ट और निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे एक साधन के रूप में स्वीकार करती है। उस लक्ष्य को उसने मोक्ष या मुक्ति कहकर पुकारा है। मोक्ष का तात्पर्य है – समस्त प्रकार के मानसिक बन्धनों से मुक्ति। मनुष्य अपने मन के द्वारा बँधा हुआ है और इसलिए अपने शरीर तथा इन्द्रियों में सीमाबद्ध हो जाता है। उसमें क्षमता तो अनन्त है, पर शरीर, मन और इन्द्रियों के द्वारा सीमित हो जाने के कारण वह अपनी इस क्षमता को आवरित कर लेता है। मोक्ष का अर्थ है – अपनी इस छिपी अनन्त क्षमता को उद्घाटित कर लेना और व्यापक बन जाना। इसी को दूसरे शब्दों में ईश्वर-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार आदि कहकर पुकारा गया है।

तीर्थों की परिकल्पना में इस मोक्ष का सर्वोपरि स्थान और महत्त्व रहा है। **'तरति अनेन इति तीर्थम्'** – इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा मनुष्य इस अपार सांसारिकता से तर जाय, उसे तीर्थ माना गया है। यदि 'तीर्थ' शब्द का आधुनिक ढग से निर्वचन किया जाय, तो 'ती' शब्द से 'तीन' और 'र्थ' से 'अर्थ' – प्रयोजन लेना चाहिए। इस प्रकार जिससे तीन अर्थों की सिद्धि हो अर्थात् तीन पदार्थों की प्राप्ति हो, उसे 'तीर्थ' कहते हैं। पदार्थ का तात्पर्य है – प्रयोजन और अर्थ। हमारी संस्कृति ने संसार में चार पदार्थ माने हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों में से अर्थ यानी धन तो तीर्थयात्रा करने में खर्च ही होता है, अतः उसकी सिद्धि वहाँ प्रायः सम्भव नहीं है। इसलिए **धर्म, काम और मोक्ष – इन तीनों की सिद्धि तीर्थयात्रा से मानी गयी है।** (१) सात्त्विक पुरुष तो मोक्ष के लिए ही तीर्थ-यात्रा करते हैं। (२) धर्म-सग्रह के लिए सात्त्विक और राजसी – दोनों प्रकार के ही मनुष्य तीर्थयात्रा करते हैं। (३) केवल इह-लौकिक और पारलौकिक कामनाओं की सिद्धि के लिए ही राजसी मनुष्य तीर्थ-यात्रा करते हैं। इसमें धर्म-सग्रह के लिए निष्काम भाव से तीर्थयात्रा करनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं और सकाम भाव से करनेवाले राजसी हैं, क्योंकि निष्काम भाव से की हुई तीर्थयात्रा का फल मुक्ति है और सकाम भाव से की हुई तीर्थयात्रा का फल इस जीवन के भोग व परलोक में स्वर्ग आदि की भोगप्राप्ति है।

तीर्थ से बढ़कर विश्व-भाषाओं में वस्तुतः दूसरा सुन्दर शब्द नहीं है। इसका तारक – समुद्धारक होना ही इसकी अनुपमता का परिचायक है। **तीर्थों के तीन रूप माने गये हैं – पहला जंगम, दूसरा मानस, तीसरा भौम।** आचार-सम्पन्न सन्त-महात्मागण जगम-तीर्थ के रूप हैं। वे जहाँ जाते हैं, उसे तीर्थ बना देते हैं – **'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि'**। वह तो मनुष्य ही है, जो किसी स्थान को तीर्थ बना देता है। और तब वह तीर्थ दूसरे मनुष्यों को पावन करने लगता है। मानस-तीर्थ का अर्थ है – सत्य, क्षमा, दान, दया, दम, तप, ज्ञान, सन्तोष, धैर्य, धर्म तथा चित्तशुद्धि। और विभिन्न पवित्र स्थल भौम-तीर्थ कहलाते हैं।

हमारे पुरखों ने बहुत सोच-समझकर तीर्थ-यात्रा करने का आदेश दिया है। वे जानते थे कि यदि यात्रा के लाभ के नाम पर देशवासियों से घूमने को कहा जायेगा, तो बहुत कम लोग यात्रा का लाभ उठायेंगे – रुपये-पैसे की किल्लत, सासारिक झझट तथा अस्वास्थ्य आदि न जाने कितने बहाने एव कठिनाइयाँ निकल आयेंगी। परन्तु स्वभाव से ही धर्मभीरु हिन्दू 'धर्म' के नाम पर अपना परलोक बनाने के लिए सारी परिस्थितियों की अवहेलना करते हुए धर्म-लाभ के लिए अवश्य तीर्थ-यात्रा करेंगे और अप्रत्यक्ष रूप से यात्रा के सब लाभों को ले सकेंगे। वैसे भी तीर्थ-यात्रा करने से अनेक लाभ हैं। स्थान-स्थान की वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार, रग-रूप, भाषा, वनस्पति, पैदावार आदि भिन्न-भिन्न होती है। अतः **तीर्थ-यात्री का ज्ञान और अनुभव विस्तृत होता है।** धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, कलात्मक, सामाजिक, आर्थिक तथा सामयिक ज्ञान तो उसे होता ही है – मन्दिर और मूर्ति के सामने जाकर, श्रद्धा से नतमस्तक हो, अपने कालुष्य का विसर्जन करके कुछ समय तक यात्री आत्म-विस्मृत हो इस लोक से उस लोक में पहुँच जाता है। इसका निश्चित रूप से स्थायी तथा सात्त्विक प्रभाव उसके हृदय और आत्मा पर पड़ता है। उसके हृदय में ससार की अनित्यता और विलास तथा वैभव के क्षणिक एवं मिथ्या अस्तित्व का ज्ञान उदित होता है और वह अपने भविष्य के सशोधित जीवन तथा इस लोक एवं परलोक पर सोचने लगता है। परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति तथा सद्भावनाओं, सद्विचारों, सत्कर्मों, परोपकार तथा दान-पुण्य आदि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और वह वहीं उनका श्रीगणेश भी कर देता है। अपने पुरखों तथा प्राचीन इतिहास की महत्ता का सच्चा आभास उसे मिलता है। इसके अतिरिक्त, जलवायु का परिवर्तन और नाना प्रकार के रग बिरंगे दृश्य, झरने, पर्वत, कन्दराएँ, जगल, पशु-पक्षी आदि उसके स्वास्थ्य तथा मन पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। ईश्वर की महत्ता एव अपनी लघुता का

भी वह अनुभव करता है और अपने तथा विराट् प्रकृति के अटूट सम्बन्ध को समझकर 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अर्थ समझ जाता है। ईश्वर की दी हुई आँखों का फल वह ईश्वर की कारीगरी और उसकी विचित्र लीला देखकर पाता है। उसकी निरीक्षण-शक्ति, प्रकृति के ज्ञान तथा विज्ञान की उपयोगिता की भावना में वृद्धि होती है।

देश-प्रेम के नारे लगाकर हम बालकों तथा युवकों में राष्ट्रप्रेम के पुनीत भाव को भरना चाहते हैं। किन्तु जिस देश को उन्होंने देखा नहीं, समझा नहीं, जिसका वास्तविक स्वरूप ही उनके सामने नहीं है, उसके प्रति सच्चा प्रेम हो ही कैसे सकता है? अतः इस बात की आवश्यकता है कि हमारे नवयुवकों को यात्रा करने के लिए प्रेरित किया जाय तथा देश के रमणीय प्राकृतिक दृश्यों एव धार्मिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों का सुन्दर वर्णन भी उनके सामने रखा जाय, जिसे पढ़कर उनके हृदय में उन स्थानों का परिचय पाने का उत्साह बढ़े। यह निर्विवाद सिद्ध है कि **यात्रा राष्ट्रीय भावनाओं का भी उदय, पोषण तथा वृद्धि करती है।** जब यात्री कन्याकुमारी से काश्मीर, कामरूप से कच्छ तक जन-जीवन में उन्हीं, अपने समान ही सांस्कृतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रकाशन देखता है, तो मातृभूमि के प्रति वह समर्पित हो सर्वत्र एकत्व के सूत्र की अनुभूति करता है।

तीर्थयात्रा से अनन्त लाभ हैं। प्रदर्शनी की टीमटाम आदि अनेक उपायों तथा महान् धन-व्यय से जो उद्देश्य सिद्ध होता है, वह अनायास ही तीर्थ तथा मेलों से हो जाता है। हमारे तीर्थ-स्थान प्रायः प्रकृति की केलि-भूमि में स्थापित हुए हैं। **तीर्थयात्रा करने के बाद मनुष्य कूप-मण्डूक नहीं रह जाता।** तीर्थयात्रा के बिना जीवन नीरस, व्यर्थ, धर्मशून्य माना जाता है। जो व्यक्ति कभी यात्रा में गया नहीं, उसे विश्व की व्यापकता और वैचित्र्य का अनुभव नहीं हो पाता, उसकी कूप-मण्डूक वृत्ति उसे सबके सामने हास्यास्पद बना देती है।

कूप-मण्डूक की कथा प्रसिद्ध है। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो में भरे विश्व-धर्म-सम्मेलन में यह कथा सुनाकर सब श्रोताओं का मन मोह लिया था। एक कुएँ में बहुत समय से एक मेंढक रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, पर फिर भी वह मेंढक छोटा ही था। हाँ, आज के क्रम-विकासवादी उस समय वहाँ न थे, जो यह बतलाते कि उस मेंढक की आँखें थीं अथवा नहीं, पर यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसकी आँखें थीं और वह प्रतिदिन ऐसे परिश्रम के साथ जल के क्षुद्र जन्तुओं और कीड़ों को खाकर जल को शुद्ध रखता था कि उतना परिश्रम हमारे आधुनिक कीट-तत्त्ववादियों को यशस्वी बना दे। खैर, इस प्रकार धीरे धीरे यह मेंढक उसी कुएँ में रहते रहते मोटा-ताजा हो गया। होते-होते एक दिन एक दूसरा मेंढक जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया और कुएँ में गिर पड़ा।

"तुम कहाँ से आये हो?" – कूप-मण्डूक ने पूछा।

"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र ! भला कितना बड़ा है वह? क्या वह भी इतना ही बड़ा है जितना मेरा यह कुआँ?" और यह कहते हुए उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्रवाले मेंढक ने कहा – "मेरे मित्र, भला समुद्र की उपमा इस छोटे से कुएँ से किस प्रकार दे सकते हो?"

तब उस कुएँ वाले मेंढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा – "तो क्या इतना बड़ा है?"

समुद्रवाले मेंढक ने कहा – "कैसी बेवकूफी की बात कर रहे हो ! क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएँ से हो सकती है !"

अब तो कुएँवाले मेंढक ने चिढ़कर कहा – "जा, जा ! मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा और कुछ नहीं है। झूठा कहीं का ! अरे, इसे पकड़कर बाहर निकाल दो !"

भाइयो, ऐसा संकीर्ण भाव ही हमारे कलह का कारण है।

तो, यह थी कूप-मण्डूक की कथा, जिसे सुनाकर स्वामी विवेकानन्द ने मानव-मन की सकीर्णता की व्याख्या की। **देश-दर्शन के अभाव में मनुष्य की मनोवृत्ति ऐसी ही संकुचित हो जाती है।** इसीलिए हमारी सस्कृति में तीर्थों की परिकल्पना की गयी, जिससे मनुष्य का मनोभाव फैले और वह उदार हो।

तीर्थ का एक लाभ और है। जब किसी विशिष्ट स्थान पर लोग एकत्र होकर एक ही प्रकार का चिन्तन करते हैं, तो उस चिन्तन का स्पन्दन तीव्र हो जाता है और अपना प्रभाव वातावरण में बिखेर देता है। जैसे, जिस स्थान पर मद्यपान किया जाता हो और जुआ खेला जाता हो, वहाँ उसी प्रकार के दुर्भाव तीव्र रहते हैं। एक सज्जन उस स्थान में कहीं जा पड़ा, तो उसके मन में बलात् दुर्भाव उठने लगते हैं। इसी प्रकार, **जब व्यक्ति तीर्थ में जाता है, तो उसका मन बिना किसी प्रयत्न के तीर्थ में व्याप्त धर्म और सांस्कृतिक एकता के तीव्र स्पन्दनों से प्रभावित होकर उस ओर उन्मुख हो जाता है।** यह तीर्थ का प्रत्यक्ष लाभ है। हजार वर्ष की गुलामी के बावजूद एक राष्ट्र के रूप में हमारे बचे रहने का सर्वाधिक श्रेय है हमारे तीर्थों को, जिन्होंने घोर विपत्ति के क्षणों में भी हमारी सास्कृतिक पहचान को अमिट बनाये रखा। ❏ ❏ ❏

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

८८. प्रश्न – क्या जीव के कल्याण के लिए जीवित सद्‌गुरु का होना अनिवार्य है? क्या सद्‌गुरु से मंत्र-दीक्षा लिए बिना जीव का कल्याण सम्भव नहीं है?

उत्तर – श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि यदि हमारे मन में ईश्वर को पाने की तीव्र व्याकुलता हो जाए, तो वही हमारा गुरु बन जाता है तथा हमारे कल्याण का हेतु। धर्मग्रन्थों ने भी कहा है – **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः –** मन ही मनुष्य के बन्धन का हेतु है तथा मोक्ष का भी। पर प्रश्न यह है कि मन में वैसी तीव्र आकुलता कैसे आए? वह बन्धन का हेतु न बनकर मोक्ष का हेतु कैसे बने? इसके लिए हमें मार्गदर्शन की जरूरत होती है। कई लोग भावुकतावश अपने मन में व्याकुलता का 'आरोपण' किया करते हैं। ईश्वर के लिए 'जबरदस्ती' अपने मन में रुदन लाने का प्रयास करते हैं। ऐसी व्याकुलता, जो बलपूर्वक लायी जाए, हानिकारक होती है। ईश्वर के लिए मन में उठनेवाली व्याकुलता बहुधा हमारी निम्न प्रवृत्तियों को जोरों से उभाड़ दिया करती है, और यदि हम इन रहस्यों को बिना जाने, केवल पुस्तक पढ़कर, अपने मन के अनुसार साधना करते रहें, तो मनोरोग से आक्रान्त होने की आशंका बनी रहती है। ये सारी बातें वही बता सकता है, जिसे स्वयं अनुभव हो। सही रास्ते का पता वही दे सकता है, जो उस पर से गया हो। ऐसे अनुभवी लोगों को ही हम आध्यात्मिक पथ के सन्दर्भ में 'सद्‌गुरु' कहते हैं। अतः सद्‌गुरु की अनिवार्यता उपर्युक्त विवेचना से सिद्ध हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सद्‌गुरु का जीवित रहना कितना कल्याणकारी है।

जहाँ तक सद्‌गुरु से मंत्रदीक्षा लेने का प्रश्न है, उसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका यों है। वैसे हमारा मन कई मंत्रों और ईश्वर के कई रूपों में भटकता रहता है। हम कभी एक मंत्र का जाप करते हैं, तो कभी दूसरे मंत्र का। कभी हमें 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' कहना, और कभी मात्र 'ॐ' का जाप करना भाता है। कभी हम राम-नाम जपते हैं, तो कभी कृष्ण-नाम। कभी शिव का ध्यान करते हैं, तो कभी राम का, कभी काली का, तो कभी दुर्गा का। मन भगवान के इन विभिन्न रूपों और नामों में भटका करता है। यद्यपि ये सभी नाम और सभी रूप सत्य हैं, परन्तु फल सबमें भटकने में नहीं मिलता। किसी एक रूप में अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित करना होता है तथा उसी के नाम का जप। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम अन्य रूपों और अन्य नामों से द्वेष करें। हमारी श्रद्धा सभी नामों और सभी रूपों पर रहे, पर एक में हमारी विशेष आस्था हो। उस एक को 'इष्ट' कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति दस स्थानों पर यदि ५-५ फुट खोदकर छोड़ दे, तो उसे जल नहीं मिलेगा, जल पाने के लिए उसे एक ही स्थान पर ५० फुट खोदना होगा, वैसे ही जीवन में कल्याण पाने के लिए एक इष्ट को लेकर साधना करनी होती है। पर हम स्वयं ही अपने इष्ट का निर्णय नहीं कर पाते, इसीलिए सद्‌गुरु की शरण लेते हैं। वे हमारी भावना को पहचानकर तदनुरूप इष्ट-मंत्र प्रदान करते हैं। यही मंत्रदीक्षा का रहस्य है।

८९. प्रश्न – गीता में निष्काम कर्मयोग की बात कही गई है। बताया गया है कि बिना फल-कामना के कर्म करना चाहिए। यह कैसे सम्भव है? बिना फल-कामना के किसी भी क्रिया में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती।

उत्तर – यह सही है कि फल की कामना के बिना कोई क्रिया नहीं होती – चाहे क्रिया अपने लिए हो चाहे दूसरे के लिए। तो फिर निष्काम कर्म का अर्थ क्या हुआ? इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त का उपयोग करें –

एक लड़का है। परीक्षा पास आ गई है। उसके पिता ने कहा है – यदि तुम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होगे, तो तुम्हारे लिए विदेशी छात्रवृत्ति का प्रबन्ध कर दूँगा, जिससे बाहर जाकर पढ़ सकोगे, पर यदि अच्छी तरह उत्तीर्ण न हो सके, तो तुम्हें यहीं कोई काम ढूँढ़ लेना होगा। लड़का पढ़ने बैठता है। दो-तीन पंक्तियाँ पढ़ता है कि मन पिता के शब्दों पर चला जाता है। सोचता है – वाह, विदेश में जाकर पढ़ने में क्या मजा आएगा, खूब सैर-सपाटे होंगे, मौज करेंगे, वहाँ से डिग्री लेकर लौटेंगे, तो बड़े घर में विवाह होगा, बढ़िया बँगला होगा, खूबसूरत पत्नी रहेगी, आदि आदि। फल के चिन्तन में लड़का डूब जाता है। जब होश आया तो देखा कि आधे घण्टे से अधिक बीत चुका है और वह दो पंक्तियाँ भी ठीक से नहीं पढ़ सका है। उसे अपने ऊपर झल्लाहट आती है। डर लगता है कि उसका ध्यान यदि पढ़ने में न लगा, तो परीक्षा में अच्छे नम्बर कैसे पाएगा ! और यदि परीक्षा में अच्छे नम्बर न मिले,

तब तो भारत में ही रहकर कोई नौकरी खोजनी पड़ेगी। अच्छी नौकरी तो मिलने से रही। फिर बड़े घर में शादी भी न हो सकेगी। छोटे-मोटे मकान में रहना होगा। जिन्दगी एक बोझ हो जाएगी। आर ऐसा सोचते-सोचते उसका 'मूड' खराब हो जाता है। घड़ी की ओर देखता है। आधा घण्टा और निकल गया! एक घण्टे में वह ठीक से दो-तीन पंक्तियाँ भी नही पढ़ सका। वह पढ़ना छोड़कर उठ जाता है और 'मूड' ठीक करने के लिए घूमने या 'पिक्चर' देखने निकल जाता है।

यही जीवन की वास्तविकता है। लड़का फल के चिन्तन में समय तथा शक्ति का दुरुपयोग कर बैठता है। यदि उसने इस समय और शक्ति का उपयोग पढ़ाई में किया होता, तो उसके कर्म की 'क्वालिटी' सुधरती। और यह तो ध्रुव सत्य है, कर्म का अटल नियम है कि जैसा कर्म, वैसा फल। तो, जब गीता कहती है कि बिना फल की कामना के कर्म करना चाहिए, तो इसका तात्पर्य यही है कि हम फल का चिन्तन इतना न करे कि हमारे कर्म की 'क्वालिटी' ही खराब हो जाए। हम कर्म की अपनी योजना बना लें, हमें किस लक्ष्य को पाना है, इसे निर्धारित कर लें और उसकी सिद्धि के लिए कूद पड़ें। फिर फल के वृथा चिन्तन में अपना समय और अपनी शक्ति न गँवाएँ। सारा समय, सारी शक्ति उस कर्म में लगा दें, और जब भी मन में फल का विचार उठे, उसे ईश्वरार्पित करने का प्रयास करें; मन में फल के लिए जो आग्रह, जो उत्कण्ठा होती है, उसे प्रयासपूर्वक ईश्वर की इच्छा में निमज्जित करते रहें – यही निष्काम कर्मयोग की साधना है। यही बिना फल की कामना के कर्म करना है। तो, प्रारम्भ में फल की कामना रहेगी। पर हमारी साधना उसे ईश्वर के चरणों की ओर मोड़ती है। यह सधने पर फिर प्रत्येक कर्म ईश्वर की पूजा हो जाता है। साधक ईश्वर से कहता है – "प्रभो! तुम्हें और कोई फल तो मैं नहीं दे सका। अपने कर्म का यह फल ही तुम्हें देता हूँ, यह नैवेद्य ग्रहण करो।" और जब हम इस भाव को लेकर कर्म करते हैं, तब हमारे भीतर की सम्भावनाएँ प्रकट होने लगती हैं। अत: निष्काम कर्मयोग हमारे कर्म की गुणवत्ता को सुधारकर उसे अधिक सम्भावना-युक्त तो करता ही है, साथ-ही-साथ वह ऐसा रसायन पैदा करता है, जिससे कर्म का बन्धन हममें लग नहीं पाता।

९०. प्रश्न – ईश्वर को पाने की आकुलता कैसे लाएँ?

उत्तर – जीवन में उनकी अपरिहार्यता का अनुभव करके। जब तक हमें ऐसा लगता है कि भगवान की विशेष आवश्यकता नहीं है, तब तक आकुलता नही आती। जब ऐसा लगता है कि ईश्वर ही हमारे सब कुछ हैं और जब संसार नीरस लगने लगता है, तो उन्हें पाने की आकुलता मन में जन्म लेती है। इसके लिए सत्संग नितान्त आवश्यक है। सत्संग से हमारे मन में नित्य-अनित्य का विवेक-विचार जन्म लेता है और संसार के विषयों-भोगों के प्रति वैराग्य की भावना आती है। यह विवेक और वैराग्य क्रमश: परिपक्व होने पर, भगवान को पाने की आकुलता में परिवर्तित होता है।

९१. प्रश्न – कहते है कि व्यक्ति आज जो कुछ है, पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम है। तो क्या इन संस्कारों को पुरुषार्थ के द्वारा बदला नहीं जा सकता?

उत्तर – क्यों नहीं, अवश्य बदला जा सकता है। यह सत्य है कि हम पूर्वजन्म के संस्कार लेकर पैदा होते हैं, पर यह भी सत्य है कि प्रयत्नपूर्वक इन संस्कारो में परिवर्तन साधित किया जा सकता है। मान लीजिए, किसान के पास उत्तम नस्ल के बीज हैं। पर उन बीजो का समुचित फल उसे तभी मिलेगा, जब जमीन अच्छी तरह से तैयार हुई हो, खाद का भरपूर प्रबन्ध हो और सिंचाई की यथोचित व्यवस्था हो। इन सबके के अभाव में उत्तम बीज भी सारहीन हो अपना पूरा फल नही दे पाएँगे। यदि बीज निकृष्ट नस्ल के हों, तो भी यदि उन्हें जमीन, खाद और सिंचाई की उत्तम व्यवस्था मिले, तो वे अपना अधिकतम फल प्रदान करेंगे, अन्यथा उनमें जो सार है, वह भी नष्ट हो जाएगा। इसी प्रकार, पूर्वजन्म के संस्कारों की तुलना हम बीजों से कर सकते हैं तथा जमीन, खाद और सिंचाई की व्यवस्था की तुलना पुरुषार्थ से। पुरुषार्थ के द्वारा संस्कारों की सामर्थ्य को परिवर्धित किया जा सकता है और साथ-ही-साथ परिवर्तित भी। पुरुषार्थ के अभाव में उत्तम संस्कार भी कुण्ठित हो जाते हैं।

९२. प्रश्न – कहावत है – 'जैसा अन्न वैसा मन'। फिर भारतीय मनोविज्ञान यह भी कहता है कि मन के अनुरूप शरीर की रचना होती है। ये दोनो आपात-विरोधी सिद्धान्त मालूम पड़ते हैं। इनमें सत्य कौन है?

उत्तर – वैसे दोनों ही सिद्धान्त अपनी अपनी जगह ठीक हैं। हम जिस प्रकार का भोजन करते हैं, हमारी मानसिकता पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। सात्त्विक जीवन बिताने के लिए तदनुरूप भोजन से बड़ी सहायता मिलती है। अत: यह कहना युक्तियुक्त है कि भोजन के अनुरूप हमारा मन बना रहता है। साथ ही यह भी सत्य है कि हमारे मन के भाव शरीर पर अनुरूप क्रिया करते हैं। मन में क्रोध हो, तो शरीर के अंग तदनुरूप फड़कने लगते है। यदि मन मे शान्ति हो, तो हमारे अंग-प्रत्यंग से इस शान्ति का विकिरण होता है। मन का तीव्र आवेग शरीर के लक्षणों को भी बदल देता है, इसके उदाहरण हमे श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में दिखाई देते है। अत: यह कथन भी सही है कि मन की भावना के अनुरूप शरीर की रचना होती है। दोनों सिद्धान्त अन्योन्याश्रित है।

❖ (क्रमशः) ❖

शिक्षकों का कर्तव्य (५)

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने दिल्ली, फरीदाबाद तथा नोएडा में स्थित एपीजे स्कूलों के शिक्षकों को २ अप्रैल, १९८६ को सम्बोधित करते हुए अंग्रेजी भाषा में जो व्याख्यान दिया था, यह लेखमाला उसी पर आधारित है। मूल अंग्रेजी में इस व्याख्यान के कई संस्करण निकले है। हिन्दी में इसका अनुवाद किया है स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने। – सं.)

११. आधुनिक पाश्चात्य जगत् पर भारत का प्रभाव

केन्द्र सरकार की नयी शिक्षा नीति में अनेकों कार्यक्रम हैं, जिसमें तीन अधिक महत्वपूर्ण हैं – प्रथम, शिक्षक-प्रशिक्षण का पुनर्गठन करना, द्वितीय, प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाना और तृतीय, आदर्शोन्मुखी शिक्षा पर बल देना। शिक्षक-प्रशिक्षण के पुनर्गठन में सरकार की जो भी भूमिका हो, लेकिन महानतम उत्तरदायित्व स्वयं शिक्षकों के ऊपर ही आता है। वे लोग प्रतिवर्ष विस्तार को प्राप्त हो रहे अभिनव-ज्ञान-जगत् के प्रति अपने मस्तिष्क को उन्मुक्त रखें।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानवीय सम्भावनाओं के क्षेत्र में नित नवीन विचारों के साथ सामने आ रहे हैं, जिनमें मानव में निहित आध्यात्मिक पहलू के विषय में भारतीय विचार ही अधिकाधिक उच्च स्थान पा रहे हैं। अमेरिका के वाट्सन और रूस के पावलोव के आचरण-मनोविज्ञान से आरम्भ होकर वह फ्रॉयड और उनके सम्प्रदाय के गहन मनोविज्ञान में विकसित हुआ और धीरे धीरे जूरिक के कार्ल युंग और अन्य लोगों द्वारा आध्यात्मिक दिशा को प्राप्त हुआ। पश्चिम में मनोविज्ञान सम्प्रति अब्राहम मैस्लो तथा उनके अनुयाइयों द्वारा अस्ति-मनोविज्ञान में उन्नीत होकर अतीन्द्रिय मनोविज्ञान के नए आयाम में विकसित हुआ है। इस नव-मनोविज्ञान की अपनी एक पत्रिका है और अतीन्द्रिय मनोविज्ञान का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है, जो विश्व के विभिन्न भागों में वार्षिक सम्मेलनों का आयोजन करती है। ये सभी नई नई प्रगतियाँ वेदान्त, उपनिषद् के योग, गीता और पतंजलि के योगसूत्र से काफी प्रभावित हैं। इन प्रगतियों से परिचित एक शिक्षक, इन सबसे अनभिज्ञ व्यक्ति की अपेक्षा एक अच्छा शिक्षक होगा। और यह हमारी राष्ट्रीय विरासत है, पर हम उन्हें नहीं जानते और न उनका उपयोग ही करते हैं। पाश्चात्यवासी उसे स्वीकार करते हैं और हम लोगों की अपेक्षा उनका अधिक उपयोग करते हैं, यही हम लोगों का दुर्भाग्य और उन लोगों का सौभाग्य है।

इसलिए आज इस अवसर पर मैं अपने शिक्षकों को, एक बार फिर, अपने राष्ट्रीय विरासत में प्राप्त प्राचीन मूलभूत ग्रन्थों के बुद्धिपूर्वक अध्ययन करने और इस क्षेत्र में पश्चिम में हुई प्रगति को पकड़ने की आवश्यकता पर बल दे रहा हूँ। यहाँ एक साथ ही तीन विद्यालयों के शिक्षक मेरे समक्ष विद्यमान हैं। आप लोग पहले से ही अच्छा काम कर रहे हैं। आपके विद्यालय का परीक्षाफल भी अच्छा है। लेकिन आप लोग याद रखें, वह केवल शैक्षणिक दृष्टि से है। सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है – आपके विद्यालय से बाहर निकलने वाले छात्र का चरित्र। हम लोग वैसे चतुर छात्रों का दल नही चाहते है, जो हमारे विद्यालय से बाहर निकलकर आत्म-केन्द्रित, स्वार्थी, उच्चाकांक्षी और भारत या विदेशों में केवल अपने लिए धन चाहते हों तथा भोग-ऐश्वर्य का जीवन बिताने मात्र के अभिलाषी हों। **हम ऐसे विद्यार्थी चाहते हैं, जो अपने देश के बारे में सोचते हों, जो अपने समाज के करोड़ों दुर्बलों, पिछड़े वर्गों तथा आदिवासियों के बारे में सोचते हों। हमारे छात्र विद्यालयों और महाविद्यालयों से निकलकर मानवीय संवेदनाओं से अनुप्राणित हों।** हमारी राजधानी के बच्चों में तो यह विशेषता अवश्य होनी चाहिए। हमारी राजधानी के बच्चों का तो यह विशेष उत्तरदायित्व है। अन्य स्थानो के बच्चों की अपेक्षा उन्हें आत्मविकास के लिए अधिक अवसर प्राप्त हैं। उन्हें निरन्तर इस उक्ति की सत्यता का स्मरण करते रहना होगा – "जिन्हें सर्वाधिक प्रदान किया गया है, उन्हीं से सर्वाधिक प्राप्ति की अपेक्षा भी की जाएगी।" अपने शिक्षण के दौरान आप अपने छात्रों को स्वामी विवेकानन्द के इस विचार से अवगत करावें, जिसे उन्होंने १८९४ में शिकागो से अपने एक पत्र में मैसूर के महाराजा को लिखा था – "यह जीवन क्षणस्थायी है, संसार की भोग-विलास की सामग्रियाँ भी क्षणभंगुर हैं। वे ही यथार्थ में जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीवन धारण करते हैं। बाकी लोगों का जीना तो मरने ही के बराबर है।"

आप लोग इस सन्देश और इसके अनुसार कैसे जीवन-यापन करें, इस विषय पर चिन्तन-मनन करने मे अपने छात्रों की सहायता करें, ताकि वे लोग 'व्यक्तित्व से विकसित व्यक्तित्व' को प्राप्त कर सकें। मैं आप सबके प्रति अपना प्रेम और अपनी शुभेच्छाएँ व्यक्त करता हूँ।

परन्तु व्याख्यान केवल एकमार्गी यातायात है। व्याख्यान का सर्वोत्तम अंश है – प्रश्न-उत्तर सत्र, जिसे मैं पूरे विश्व में प्रोत्साहित और स्वागत करता हूँ। आप लोगों के द्वारा कोई भी प्रश्न पूछने का मै स्वागत करता हूँ और मै अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसका उत्तर दूँगा। मैं आप लोगों को अपने देश के उस वेदान्त-दर्शन का स्मरण कराना चाहता हूँ, जो कितने भी प्रश्नों का न केवल सामना कर सकता है, अपितु प्रश्नों को

आमंत्रित भी करता है और यह उस जिज्ञासा तथा प्रश्न करने की मनोवृत्ति के बिना प्रकाशित नहीं होता। हमारे महाकाव्य महाभारत (१/१/२०४) में एक श्लोक है –

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मां अयं प्रतरिष्यति ।।

– "समस्त आधुनिक निश्चयात्मक ज्ञान के प्रकाश में वेद की व्याख्या होनी चाहिए। वेद यह सोचकर अज्ञानी से डरता है – 'यह व्यक्ति अवश्य ही मुझे विकृत कर देगा' !"

हम लोगों के लिए दु:ख की बात यह है कि हमारे देशवासी बुद्धिवादी जिज्ञासु-मनोवृत्ति लेकर वेदान्त नहीं पढ़ते। पर आज पाश्चात्य देशवासी इस वेदान्त-दर्शन तथा आध्यात्मिकता का आकुल जिज्ञासु मनोवृत्ति के साथ अध्ययन कर रहे हैं। जर्मनी, हॉलैंड और आस्ट्रेलिया में वेदान्त के लिए कितनी भूख है ! कैसे वे लोग प्राप्त ज्ञान के प्रति अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं ! क्योंकि सोलह सौ वर्षों के ईसाई धर्म के आधिपत्य के दौरान उन्हें कभी भी इस प्रकार की खोज तथा प्रश्न करने की स्वाधीनता नहीं मिली थी। कुछ धार्मिक या मतवादों को बिना कोई प्रश्न किए चुपचाप स्वीकार करना था और यदि किसी ने कोई प्रश्न उठाया, तो वह संकट को बुलावा देना था – यही था ईसाई जगत् का अनुभव। इस प्रवृत्ति ने उन लोगों के मन को संकुचित और बुद्धि को आच्छन्न कर दिया था। लेकिन आज के आधुनिक वैज्ञानिक युग में सब कुछ प्रश्न उठाने और स्वाधीन विश्लेषण के लिए खुला है; और वेदान्त इस स्वाधीनता के उपयोग के लिए उन्हें प्रोत्साहित करता है तथा उन्हें उनके आध्यात्मिक विरासत को भलीभाँति समझने में सहायता करता है। भारतीय दर्शन व्यक्ति का चिन्तन तथा विचारों के व्यापक एवं उन्मुक्त क्षितिज से परिचय कराता है। भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों के लिए वर्तमान पिपासा का यही कारण है।

अत: आप इस समकालीन विश्व के सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर यह सोचें कि हम लोगों पर एक महान् राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी है। आप इस बोध के साथ जीवन-यापन और कर्म करें कि सारी दुनिया दर्शन और आध्यात्मिकता के लिए भारत की ओर देख रही है और भारत को इस माँग की पूर्ति करनी ही होगी। आप यह मत सोचें कि यह केवल देशप्रेम का गर्व है, ऐसा केवल हम भारतीय ही नहीं कहते, अपितु स्वयं पाश्चात्य चिन्तक भी यही कहते हैं। ऐसे अनेक पाश्चात्य चिन्तकों में से केवल एक ऐसे चिन्तक का अभिमत देते हुए मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा, जो कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक युक्तिवादी मस्तिष्कवाले समालोचक इतिहासकार थे। वे हैं सुविख्यात अंग्रेज प्राध्यापक स्वर्गीय अर्नाल्ड टॉयन्बी, जिन्होंने दस खण्डों में "इतिहास : एक अध्ययन" नामक ग्रन्थ लिखा है। १९५० वाले दशक में वे दिल्ली के रामकृष्ण मिशन में भी पधारे थे और हमारे अनुरोध पर और हमारी अध्यक्षता में उन्होंने एक बहुत बड़ी जनसभा को सम्बोधित किया था। मुझे उनमें मानवीय जीवन के विषय में एक विद्यार्थी जैसी जिज्ञासा और उत्कण्ठा देखने को मिली थी। लन्दन के 'रामकृष्ण-वेदान्त-समिति' के स्वामी घनानन्द द्वारा प्रणीत 'श्रीरामकृष्ण और उनका अनुपम सन्देश' की प्रस्तावना में टॉयन्बी लिखते हैं –

"कर्म में अभिव्यक्त श्रीरामकृष्ण का सन्देश अनुपम था। यह सन्देश स्वयं हिन्दू धर्म का चिरन्तन सन्देश था। ... जो व्यक्ति हिन्दू परम्परा में पालित-पोषित नहीं हैं, वैसे किसी भी व्यक्ति के लिए यह सन्देश प्रदान करना सम्भव न था। ... आज हम लोग अभी भी विश्व-इतिहास के एक परिवर्तनशील अध्याय में जी रहे हैं। लेकिन (दिनो-दिन) यह स्पष्ट होता जा रहा है कि यदि मानव-जाति को आत्म-संहार से बचना है, तो (विश्व-इतिहास के) जिस अध्याय को पाश्चात्य लोगों ने प्रारम्भ किया था, उसका उपसंहार भारतीय चिन्तन द्वारा हो।

"मानव-इतिहास के इस घोर संकट के क्षण में, भारतीय दर्शन ही मानवता की मुक्ति का एकमेव पथ है। सम्राट् अशोक तथा महात्मा गाँधी की अहिंसा-नीति और श्रीरामकृष्ण का सर्वधर्म-समन्वय का सिद्धान्त – इन्हीं में वह दृष्टिकोण तथा मनोभाव निहित है, जो सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए एक साथ, एक परिवार के रूप में विकसित होना सम्भव बना सकता है और इस परमाणु-युग में आत्मसंहार से बचने का यही एकमात्र उपाय है।"

१२. उपसंहार

प्राध्यापक अर्नाल्ड टॉयन्बी के उपरोक्त कथन का क्या तात्पर्य है? ध्यान रहे कि यह उद्गार किसी भारतीय गुरु के किसी शिष्य का नहीं, अपितु यह एक सूक्ष्म-चिन्तक, समालोचक, इतिहासकार का है। विश्व-इतिहास और समकालीन विश्व-परिस्थिति के अध्ययन के पश्चात् उन्होंने अनुभव किया है कि **भविष्य में विश्व-सभ्यता को समृद्ध करने में भारत का बहुत बड़ा योगदान होगा**। इसलिए इसके अर्थ पर विचार-विमर्श हेतु इसे मैं आपके समक्ष रखता हूँ। अपनी प्राचीन संस्कृति के सार्वभौमिक, बौद्धिक और मानवीय महान् विचारों तथा मूल्यो से स्वयं को और अपने देश की नव-संतानों को शिक्षित करने का आप पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व है। भारत और विश्व की सम्पूर्ण मानवता के प्रति सार्वभौमिक, बौद्धिक और मानवीय अपनी भूमिका निभाने तथा अपने उत्तरदायित्व का पालन करने की चेष्टा में आप सफल हों, यही हमारी आप सबके प्रति शुभकामना है।

❖ (समाप्त) ❖

कृष्ण-अर्जुन-संवाद का रहस्य (३/२)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

– ७ –

अर्जुन ने सब कुछ बड़े ध्यानपूर्वक सुना और यह सब सुनकर भी, एक प्रश्न और उनके मन में उपस्थित हुआ। इसलिए सब सुनने के बाद भी वे भगवान से पूछते हैं –

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यत् श्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।

– "हे कृष्ण, तुम कर्मत्याग की प्रशंसा करते हो और फिर कर्मयोग की भी स्तुति करते हो, अत: इन दोनों में से जो कोई एक श्रेयस्कर हो, वही मुझे पक्के तौर पर ठीक ठीक बताओ (अर्थात् मैं उसी का आश्रय लूँगा)।"

* * *

पहले अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा था – "यदि आपका यह दृढ़ विश्वास है कि कर्म की अपेक्षा बोध श्रेष्ठ है, तो फिर आप मुझे युद्ध के इस भीषण कर्म में क्यों डालना चाहते हैं? आपकी इन पेंचीदी बातों से मुझे उलझन महसूस हो रही है। इसलिए, जिससे मेरा कल्याण हो, उस एक को मुझे स्पष्ट रूप से बताओ।"

अर्जुन का पहले का प्रश्न तथा अभी का प्रश्न – दोनों ऊपरी तौर पर देखने से समान लग सकते हैं।

परन्तु वस्तुत: ऐसी बात नहीं है।

"कर्म की अपेक्षा बोध श्रेष्ठ है" – श्रीकृष्ण का ऐसा मत है, यह सोचकर अर्जुन ने पहला प्रश्न पूछा था।

उस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया था कि 'निश्चय ही कर्म की अपेक्षा बोध श्रेष्ठ है, क्योंकि उस आत्मबोध से ही सर्व अनर्थों के मूल में रहनेवाला 'अहं-मम' का भ्रान्ति-बोध दूर होता है, परन्तु उचित तरीके से भावयुक्त कर्म करने से ही अन्तर में यह बोध जाग्रत होता है, अत: उसके लिए तुम कर्म करो।'

यह सब सुनकर अर्जुन को विश्वास हो गया था कि कर्म और बोध ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं।

तथापि स्वजनों के प्रति आसक्ति के कारण अर्जुन को युद्ध 'टालना' ही है।

और इसलिए अर्जुन अब पूछते है – "हे कृष्ण, कर्म का आचरण या कर्मयोग और आत्मबोध या कर्मत्याग – ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं और इसीलिए तुमने इन दोनों की ही स्तुति की है। यह सब तो ठीक है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही समय में आचरण में लाना सम्भव नहीं है। अत: (मेरे लिए) इन दोनों में से कौन-सा श्रेयस्कर होगा, यह मुझे स्पष्ट रूप से बताओ।"

वस्तुत: कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा – ये एक ही सीढ़ी के दो परस्पर सापेक्ष पायदान हैं तथा अर्जुन का कर्मनिष्ठा मे ही अधिकार है, वह कर्मनिष्ठा का ही पात्र है – ऐसा श्रीकृष्ण ने असन्दिग्ध रूप से बता दिया है।

तथापि अर्जुन पूछ रहें हैं – इन दोनों में से मेरे लिए श्रेयस्कर कौन-सा है, स्पष्ट बताओ।

इस प्रश्न के पूछनेवाले के व्यक्तित्व की ओर ध्यान देने से इस प्रश्न का अर्थ और भगवान द्वारा दिये गये उत्तर का स्वरूप तथा संगति भी स्पष्ट रूप से समझ में आती है।

'प्रश्नकर्ता' पर विचार करे, तो लगता है कि कर्माचरण तथा आत्मबोध, कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा, कर्मयोग तथा कर्मत्याग – इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, इस विषय में अर्जुन श्रीकृष्ण के विचारों से अवगत ही थे।

और इसीलिए अर्जुन को लगा कि यदि आत्मबोध या ज्ञाननिष्ठा या कर्मत्याग ही श्रेष्ठ है, तो फिर कितना भी कष्ट या बाधाएँ क्यों न आएँ, तथापि उस श्रेष्ठ बात को ही स्वीकार कर, उसका ही अनुष्ठान क्यों न करें। उन्हें लगा कि थोड़ा धैर्यपूर्वक प्रयत्न किया जाय, तो ज्ञाननिष्ठा का अनुसरण किया जा सकता है। और उन्हें ऐसा लगने का कारण यह है कि स्वजनों के प्रति आसक्ति के कारण उन्हें युद्ध 'टालना' था!

और इसीलिए वे पूछते हैं कि 'ये दोनो भले ही महत्त्वपूर्ण हों, तथापि बताइये कि मेरे लिए कर्मयोग तथा कर्मत्याग मे से कौन-सा श्रेयस्कर होगा।'

प्रश्नकर्ता तथा उनके शब्दों के पीछे के मनोभाव पर विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि वस्तुत: अर्जुन चाहते हैं कि श्रीकृष्ण कह दें कि इन दोनों में से कर्मत्याग ही श्रेयस्कर है। (अर्थात् चाहे जैसे भी हो, मैं कितना भी कष्ट सहन करके उसी को आचरण में लाने का प्रयत्न करूँगा!)

अर्जुन को युद्ध टालना था, इसलिए उन्हे लगा कि यदि कर्मयोग तथा कर्मत्याग – दोनों ही महत्वपूर्ण हों, तो भी यदि कर्मत्याग ही 'श्रेष्ठ' हो तो फिर महत्वपूर्ण, पर 'कनिष्ट'

कर्मयोग का आचरण न करके, खूब प्रयत्नपूर्वक 'श्रेष्ठ' कर्मत्याग का ही अनुसरण क्यों न करें!

पर आत्मबोध या ज्ञाननिष्ठा या कर्मत्याग – अति प्रयत्न या अति उद्यमशीलता का प्रश्न नहीं है, वह तो पूरी तौर से आध्यात्मिक उन्नति का, आध्यात्मिक पात्रता का प्रश्न है।

वैसी उन्नति या पात्रता न होते हुए भी यदि कर्मत्याग किया जाएगा, तो वह आत्मबोध-रहित कर्मत्याग होगा, यह मानो पात्रता आए बिना ही केवल कर्म को त्याग देना होगा।

भगवान ने अर्जुन को पहले ही बता दिया था – **न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति** – इस प्रकार कर्म को छोड़ देने मात्र से सिद्धि नहीं मिल जाती। और उन्हीं के अनुरोध पर अब वे उन्हें – उस प्रश्न तथा उसके पीछे के प्रश्नकर्ता को उत्तर देते हैं – "हे अर्जुन, कर्मत्याग तथा कर्मयोग यह दोनों ही निःश्रेयस् – मुक्ति दिलानेवाले हैं। तथापि (तुम्हारे लिए अर्थात् अनधिकारी, अपात्र साधक द्वारा किये हुए ज्ञानरहित) कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।" –

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस्करौ उभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।।

अब मान लीजिए कि यदि भगवान ने अर्जुन रूपी प्रश्नकर्ता के अधिकार या आध्यात्मिक पात्रता की ओर ध्यान न देकर (अर्जुन या प्रश्नकर्ता पर ही लागू होनेवाला) इस तरह का सापेक्ष सत्य न बताते हुए, इस कर्माचरण या कर्मनिष्ठा या कर्मयोग की जगह ज्ञाननिष्ठा या कर्मत्याग ही श्रेष्ठ, श्रेयस्कर है – ऐसा निरपेक्ष सत्य बताया होता, तो क्या हुआ होता?

वही होता, जो अर्जुन की इच्छा थी, परन्तु जिसे उन्हीं के कल्याणार्थ श्रीकृष्ण बिल्कुल भी नहीं चाहते थे।

क्योंकि, इसके बाद अर्जुन ने कहा होता कि यदि ऐसा ही है, यदि कर्मयोग की अपेक्षा कर्मत्याग ही श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर है, तो फिर वह चाहे जितना भी कष्टसाध्य हो, मैं प्राणपण से उस श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर को करने का प्रयत्न क्यों न करूँ?

और तब इस प्रकार अपात्र अर्जुन ने कर्मत्याग दिया होता, तो इससे न केवल उनकी उन्नति की आशा अवरुद्ध हो गयी होती, अपितु परधर्म अपनाने के कारण बाद में भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर अन्ततः उनका आध्यात्मिक सर्वनाश हो जाता। और भगवान ऐसा नहीं चाहते थे। इसीलिए, सब कुछ बताने के बाद वे करुणार्द्र होकर जोर देकर अर्जुन से कहते हैं – **अथ चेत् त्वमहंकारान् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि** – अपने अहंकार के, स्वयं की इच्छानुसार चलने के अपने मोह वशीभूत होकर यदि तुम मेरा कहना नहीं मानोगे, तो हे अर्जुन, ध्यान रहे, तुम नाश को प्राप्त होगे।"

और इसलिए अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में वे असन्दिग्ध रूप से बोले – "हे अर्जुन, तुम्हारे लिये कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर है।"

* * *

अर्जुन के प्रश्न का तत्काल उपरोक्त उत्तर देने के बाद भगवान स्वयं अपने उत्तर का सविस्तार विवरण-विशदीकरण-स्पष्टीकरण करते हुए अर्जुन से कहते हैं –

"हे अर्जुन, सच कहें तो कर्माचरण तथा आत्मबोध, कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा, कर्मयोग तथा कर्मत्याग – इनके अन्दर स्थित 'बोध' की दृष्टि से देखने पर दोनों एक ही हैं। ('मैं और मेरा' नहीं, बल्कि प्रभु 'तू और तेरा' – यह एक ही बोध उन दोनों में कमो-बेश मात्रा में स्फुरित, स्पन्दित होता है, उनमें भेद वस्तुतः अभिव्यक्ति अर्थात् परिमाण का है, प्रकार का नहीं) इस वस्तुस्थिति को जो लोग समझ नहीं पाते, वे आध्यात्मिक दृष्टि से अविकसित चित्त के बालबुद्धि लोग ही इन दोनों को अलग अलग मानते हैं। बुद्धिमान लोग कभी ऐसा नहीं करते। इन दोनों का ही अन्तिम फल है अहं-मम-भ्रान्ति-बोध को ज्ञानोद्भासित कर स्वयं के तथा जगत् के सत्य स्वरूप का साक्षात्कार करना। और इसीलिए, इनमें से किसी एक का भी समुचित अनुष्ठान करने से स्वाभाविक रूप से ही साधक को इन दोनों का ही अन्तिम फल प्राप्त होता है।

"हे अर्जुन, जो स्थान – जो आत्मपद या ब्रह्मपद ज्ञान-निष्ठावान को प्राप्त होता है, वहीं कर्मनिष्ठावानों को भी प्राप्त होता है। (क्योंकि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा एक ही सीढ़ी के दो पायदान हैं – एक ही ब्रह्मनिष्ठा की दो अवस्थाएँ मात्र हैं, बस) इस प्रकार ये दोनों निष्ठाएँ एक ही हैं – यह बात जिसकी समझ में आ जाती है, वही सच्चा जानकार है।

* * *

इतना कहकर भगवान ने आगे कहा –

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।।

– हे अर्जुन, यह आत्मबोध, यह ज्ञाननिष्ठा, यह कर्मत्याग पूर्णतः चित्तशुद्धि पर निर्भर होने के कारण, चित्त के शुद्ध हुए बिना इसकी प्राप्ति कठिन है। वैसा प्रयत्न केवल दुःख का ही कारण होता है। अतः चित्तशुद्धि हेतु कर्मयोग का आचरण पूर्णतः अपरिहार्य है। ऐसे कर्मयोग के आचरण के बिना ज्ञाननिष्ठा कदापि नहीं मिल सकती। जो व्यक्ति चित्त-शुद्धि के लिए इस कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, केवल उसी को शीघ्र ही ज्ञाननिष्ठा की वह उच्च अवस्था प्राप्त होती है। (और हे अर्जुन, इसीलिए मैंने कहा कि तुम्हारे जैसे लोगों के लिए कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर है।"

इस श्लोक पर भाष्य करते हुए श्रीधर स्वामी अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण सुबोध शैली में कहते हैं –

"यदि कर्मयोगिनः अपि अन्ततः संन्यासेन एव ज्ञाननिष्ठा, तर्हि आदितः एव संन्यासतः कर्तुं युक्तः इति मन्वानं प्रति आह - अयोगतः, कर्मयोगं विना, संन्यासः प्राप्तुं दुःखं, दुःखहेतुः। अशक्य इति अर्थः। चित्तशुद्धि-अभावेन ज्ञाननिष्ठायाः असंभवात्। योगयुक्तः तु शुद्ध-चित्ततया मुनिः संन्यासी भूत्वा अचिरेण एव ब्रह्म अधिगच्छति, अपरोक्षं जानाति। अतः चित्तशुद्धेः प्राक् कर्मयोगः एव संन्यासात् विशिष्यते इति पूर्वोक्तं सिद्धम्।।"

अर्थात् - "यदि कर्मयोगियों को भी अन्त में कर्मत्याग कर ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो सकती है, तो फिर पहले से ही कर्म का त्याग करना उचित है, ऐसे विचारों से परिपूर्ण मनवाले अर्जुन से भगवान कहते हैं कि कर्मयोग के आचरण के बिना कर्म का त्याग करना, कर्म के पार जा सकना कठिन है। ऐसा करना दुःखों का कारण होगा, अर्थात् वैसा होना असम्भव है, क्योंकि चित्तशुद्धि हुए बिना ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होना अकल्पनीय है। कर्मयोग का आचरण करनेवाले को, उसके कारण चित्त शुद्ध होकर, कर्ता-कर्म-क्रिया आदि भ्रान्ति-बोध दूर हो जाने के कारण अबिलम्ब ही परब्रह्म का साक्षात् बोध होने लगता है। (ऐसे प्रत्यक्ष बोध को ही ज्ञाननिष्ठा कहते हैं) अतः निर्विवाद रूप में यह बात सिद्ध हो जाती है कि चित्तशुद्धि होने के पूर्व कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही उत्तम तथा श्रेयस्कर है।"

- ८ -

इस प्रकार हमने देखा कि संसार को अविराम जन्म-मरण के, सुख-दुःख के चक्र में घूमने के लिए कारणीभूत होनेवाले जो हर्ष-शोक-मोह-अविवेक आदि दोष हैं, उनका मूल कारण हमारी 'मैं-मेरा' के प्रति आसक्ति है। इस आसक्ति का कारण होनेवाला 'अहं-मम'-बोध भ्रान्तिजन्य होने के कारण, उसके सत्य स्वरूप के ज्ञान से अर्थात् आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान से उस भ्रान्त का निवारण होना सम्भव है।

चित्त शुद्ध होने पर उसमें यह आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान स्फुरित होने लगता है, तथा फिर उस बोध में अधिकाधिक डूबकर साधक यथासमय सिद्ध हो जाता है। यह ज्ञान या बोध जिनके चित्त में स्फुरित हो सकता है, उन्हीं को भगवान ने कहा है - ज्ञाननिष्ठ।

परन्तु सबका चित्त इतना शुद्ध नहीं होता। उन्हें भगवान ने उसी बोध का 'प्रभु, मैं-मेरा नहीं, बल्कि तू-तेरा ही' - इस बोध का यथाशक्ति, यथासम्भव आश्रय लेकर कर्मयोग का आचरण करने को कहा है। इस कर्मयोग में यथाकाल चित्तशुद्धि हो जाने पर उस चित्त में आत्मबोध या ब्रह्मबोध स्फुरित होना सम्भव होता है। इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा के साधनभूत कर्मयोग का आचरण करनेवालों को भगवान ने कहा है - कर्मनिष्ठ।

ज्ञाननिष्ठों की ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठों की कर्मनिष्ठा - इन दोनों में भेद केवल परिमाण का है, प्रकार का नहीं। इन दोनों में एक ही आत्मबोध या ब्रह्मबोध कम या अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होता है।

इसलिए भगवान ने उन्हें 'दो' निष्ठाएँ न कहकर, 'दो प्रकार की' निष्ठाएँ कहा है। एक ही आत्मनिष्ठा या ब्रह्मविद्या के ये दोनो तर-तम (श्रेष्ठतर विवेकपूर्ण) अभिव्यक्तियाँ हैं।

* * *

'निष्ठा' अर्थात् स्थिति - अवस्थिति - स्थिरतापूर्वक अवस्थान करना या स्थित रहना। ज्ञान से या कर्म से आत्मा में या ब्रह्म में स्थिरतापूर्वक स्थित रहना, ज्ञान-कर्म द्वारा आत्मा या ब्रह्म से युक्त होकर रहना - इसी को 'निष्ठा' कहा गया है। 'निष्ठा' अर्थात् योग। ज्ञाननिष्ठा व कर्मनिष्ठा, ज्ञानयोग व कर्मयोग ये उस एक ही निष्ठा या योग की द्विविध अभिव्यक्तियाँ हैं।

* * *

गीता के दूसरे व तीसरे अध्याय में, और अधिक विस्तार से कहा जाय तो गीता के प्रथम पाँच अध्यायों में इस द्विविध निष्ठा या योग का ही निरूपण किया गया है। छठें अध्याय में उसी की प्रत्यक्ष साधना की दृष्टि से विवेचन किया है। सातवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक ज्ञान-कर्म के साथ ही, उसी के साथ भक्ति का यथास्थान समुचित उल्लेख करके उसका सांगोपांग दार्शनिक तथा साधनात्मक व्याख्या की गई है, और उपसंहार रूप अन्तिम अठारहवें अध्याय में सभी सम्बन्धित विषयों के साथ उसी के विवरण सहित सविस्तार विश्लेषणात्मक चर्चा की गई है।

इसी बात को, इसी सत्य को, भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य ने चौथे अध्याय के अपने भाष्य के प्रारम्भ में अधिकारपूर्वक कहा है - **'यः अयं योगः अध्यायद्वयेन उक्तः ज्ञाननिष्ठा-लक्षणः ससंन्यासः कर्मयोगोपायः, यस्मिन् वेदार्थं परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणः निवृत्तिलक्षणः च, गीतासु च सर्वासु अयम् एव योगः विवक्षितः भगवता -**

अर्थात् - "पिछले दो (दूसरे तथा तीसरे) अध्यायों में भगवान ने 'योग' बताया है। अहं-मम-अधिष्ठित सभी कर्मों का जिसमें त्याग किया जाता है, वही ज्ञाननिष्ठा इस योग का स्वरूप है तथा कर्मयोग उसका उपाय या साधन है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति इन दोनों वृत्तियों पर आधारित वेदों का समस्त उपदेश इस द्विविध-निष्ठारूपी योग में पूर्णतः समाया हुआ है। और समग्र गीता में भगवान को इसी द्विविध-निष्ठारूपी योग का ही विवरण बताना है।"

* * *

सारांश यह कि यह 'योग' या 'द्विविधनिष्ठा' ही पूरी गीता अर्थात् इस सुप्रसिद्ध अजरामर 'कृष्णार्जुनसंवाद' का 'सार' है।

❖ (क्रमशः) ❖

पौरुष : स्वामी विवेकानन्द का अभिनव सन्देश

स्वामी योगस्वरूपानन्द

(लेखक बेलूड़ मठ में स्थित ब्रह्मचारी-प्रशिक्षण-केन्द्र में आचार्य हैं, इसे अंग्रेजी से हिन्दी भाषान्तर का कार्य किया है ब्रह्मचारी विजय ने, जो सम्प्रति वहीं के प्रशिक्षार्थी हैं। – सं.)

१८९९ ई. के जून माह में स्वामीजी गोलकोंडा नामक जलयान में दूसरी बार पाश्चात्य देशों की यात्रा कर रहे थे। यात्रा के दौरान उनके बोले हुए तथा भगिनी निवेदिता द्वारा लिपिबद्ध वाक्यों में प्रथम है – "जितनी ही मेरी आयु बढ़ती जा रही है, उतना ही मुझे सब कुछ पौरुष में ही निहित प्रतीत होता है। यही मेरा अभिनव सन्देश है।"[१]

उस समय बेलूड़ मठ से विदा लेते समय स्वामीजी ने जो बातें कही थीं, उनके अनुशीलन से हमें ज्ञात होता है कि उस समय स्वामीजी के मन में पौरुष और मनुष्य-निर्माण की बातें ही घूम रही थीं। स्वामी विवेकानन्द के भारतीय व्याख्यानों में उनका एक अद्भुत व्याख्यान है – 'संन्यास : उसका आदर्श तथा साधन।' १९ जून, १८९९ को जब स्वामीजी दूसरी बार पाश्चात्य देशों को जाने लगे, उस अवसर पर उन्होंने बेलूड़ मठवासियों को यह व्याख्यान दिया था, जो आज मठ की डायरी में सुरक्षित है। इस व्याख्यान में भी वही बात मिलती है – "अब दूसरी बात जो ध्यान में रखने की है, वह यह है कि इस मठ का उद्देश्य है 'मनुष्य' का निर्माण करना। तुम्हें केवल वही नहीं सीखना चाहिए जो ऋषियों ने सिखाया है। वे ऋषि चले गए और उनकी सम्मतियाँ भी उनके साथ चली गईं। अब तुम्हें स्वयं ऋषि बनना होगा। तुम भी वैसे ही मनुष्य हो जैसे कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति जो कभी पैदा हुए, यहाँ तक कि तुम अवतारों के सदृश हो। केवल ग्रन्थों को पढ़ने से ही क्या होगा? केवल ध्यान-धारणा से भी क्या होगा? केवल मंत्र-तंत्र भी क्या कर सकते हैं? तुम्हें तो अपने ही पैरों पर खड़े होना चाहिए और इस नए ढंग से कार्य करना चाहिए – वह ढंग जिससे मनुष्य 'मनुष्य' बन जाता है। सच्चा 'नर' वही है, जो इतना शक्तिशाली हो मानो साक्षात् 'शक्ति' हो, तथापि जिसका हृदय एक नारी के सदृश कोमल हो।"

इससे पता चलता है कि स्वामीजी मठ के संन्यासियों में पौरुष का भाव लाने को कितने आतुर थे। यह प्राचीन ऋषित्व भाव के समान ही है। वे यह नहीं चाहते थे कि साधु लोग जप-ध्यान की ओर ध्यान न दें या शास्त्र-चर्चा छोड़ दें, बल्कि इन सबका समावेश पौरुष में ही चाहते थे। इसे स्वामीजी नयी पद्धति कहते हैं। क्योंकि उनके पहले के किसी भी आचार्य ने इस बात पर विशेष ध्यान नही दिया था। स्वामीजी यहाँ 'यथार्थ मनुष्य' की परिभाषा करते हैं, जिसके वे स्वयं ही एक उत्कृष्ट दृष्टान्त हैं। इस लेख के अन्त में हम ऐसे कुछ लोगों के वर्णन देंगे, जिन्होंने इन 'यथार्थ मनुष्य' को अपनी आँखों से देखा था। उपरोक्त व्याख्यान के समय उपस्थित लोगों में शचीन्द्रनाथ बसु भी एक थे। बाद में उन्होंने वाराणसी में स्थित स्वामीजी के एक शिष्य को पत्र लिखा। यह पत्र बँगला पत्रिका 'उद्बोधन' तथा श्रीमती मेरी लुई बर्क के बृहद् ग्रन्थ 'New Discoveries' में प्रकाशित हुआ है – "स्वामीजी का व्याख्यान सुनकर सबकी धमनियों में उष्ण रक्त प्रवाहित होने लगा। सबको लगा कि मैं भी तो एक मनुष्य हूँ, मैं भी तो कुछ महान् कार्य कर सकता हूँ। स्वामीजी ने खूब उत्साह के साथ कहा था, 'भाइयो, तुम सब मनुष्य बनो, मैं यही चाहता हूँ। तुम्हें थोड़ी भी सफलता मिलने से मेरा जीवन सार्थक होगा।"[२] इससे हम समझ सकते हैं कि स्वामीजी ने किस बात पर बल दिया है। फिर स्वामीजी का अपने गुरुभाई स्वामी सारदानन्द जी के साथ इस विषय में हुई बातें भी लेखिका ने उसी पृष्ट पर अंकित किया है – "लोगों को व्यावहारिक और शारीरिक दृष्टि से बलवान बनने की शिक्षा देनी होगी।"

इसके छह सप्ताह या कुछ पहले ही स्वामी सारदानन्द जी के साथ एक सायंकालीन वार्तालाप में स्वामीजी भविष्य में भारत में किए जानेवाले अपने कार्य की रूपरेखा बताते हैं, "केवल एक दर्जन पुरुषसिंह ही इस दुनिया को जीत सकते हैं, न कि लाखों भेड़-बकरियाँ! व्यक्तिगत आदर्श चाहे कितना भी महान् हो उसका अन्धानुकरण न किया जाय।"[३]

स्वामीजी की द्वितीय पाश्चात्य यात्रा के समय अमेरिका के पश्चिम तट पर उनके व्याख्यान हुए। स्वामी अशोकानन्द ने उन व्याख्यानों को तीन भागों में विभक्त किया। प्रथम चार व्याख्यान इस दुनिया के महान् धर्माचार्यों – ईसा मसीह, भगवान बुद्ध, भगवान श्रीकृष्ण, हजरत मुहम्मद पैगम्बर – पर हुए। द्वितीय भाग आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी व्याख्यानों का है, जिनमें – बाह्य पूजा, प्राणायाम, ध्यान तथा एकाग्रता आते हैं। इनमें स्वामीजी ने व्यावहारिक जीवन मे आध्यात्मिकता तथा पौरुष अर्थात् शक्ति की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया है। यहाँ तक कि उनके राजयोग विषयक व्याख्यानों में भी इसी सन्देश – मनुष्यत्व की महिमा पर ही बल दिया गया है। तृतीय विभाग के व्याख्यान तो सीधे इसी सन्देश से सम्बन्धित

१. Sister Nivedita, The Master as I saw Him, P. 145

२. Swami Vivekananda in west · New Discoveries Volume 5, P. 17

३. Ibid

थे।[४] यात्रा के समय जलयान में स्वामीजी के मुख से जो पहली बात निकली थी, वही उनके इस काल के सभी व्याख्यानों का मूल सुर था।

पौरुष : इसका वास्तविक तात्पर्य

पौरुष इस शब्द का यथार्थ अर्थ अब हम देखेंगे। श्रीमद्-भगवद्-गीता के द्वितीय अध्याय में एक श्लोक है –

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतन्तप ।।

– 'हे अर्जुन, तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता त्यागकर, हे शत्रुतापी उठ।'

यहाँ 'क्लैव्यम्' शब्द पौरुष अर्थात् Manliness का पूर्णतः विपरीतार्थक है। क्लैव्यम् का अर्थ है नपुंसकता अर्थात् Unmanliness। यहाँ हम देखते हैं कि भगवान ने अर्जुन की बीमारी को ठीक ठीक जान लिया है और वह है – क्लैव्यम्। वे अर्जुन को इस कापुरुषता को छोड़ देने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इसी तरह इस आधुनिक युग के पार्थसारथी स्वामीजी ने समूची मानव-जाति की बीमारी को समझ लिया है और उसके लिए रामबाण दवा भी दी है। और वह है – Manliness – पौरुष। विशेष रूप से भारतवासियों के लिए लिखित अपने 'वर्तमान भारत' शीर्षक लेख के आखिरी परिच्छेद को उन्होंने स्वयं ही 'स्वदेश-मंत्र' नाम दिया है। इसमें वे सबको शक्ति की देवी से दिन-रात यह प्रार्थना करने को कहते हैं – 'हे जगदम्बे ! मुझे मनुष्यत्व दो, माँ मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।''[५]

उसका आधार

स्वामीजी कहते है कि इस पौरुष का आधार है – अपने सच्चे स्वरूप आत्मा में चिर-विश्वास। उनके द्वारा रचित उस स्तोत्र से यह स्पष्ट होता है, जिसे उन्होंने २५ सितम्बर, १८९४ ई. को अपने गुरुभाइयों के नाम लिखित एक पत्र में लिखा था।[६] इसमें उन्होंने बताया है कि श्रीरामकृष्ण के दास कौन हैं? स्वामीजी कहते हैं – श्रीरामकृष्ण का दास वही है जो नक्षत्रों को चूर्ण-विचूर्ण कर सकता है और जगत् को उलट-पलट दे सकता है – **कुर्मस्तारकचर्वणं त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात्**। वे इतनी शक्ति तथा पौरुष की अपेक्षा रखते हैं। पर उसका आधार क्या है? – वह अपनी सर्वशक्तिमान स्वरूप को जाग्रत कर देता है –

किन्नाम रोदिषि सखे त्वयि सर्वशक्ति-
रामन्त्रयस्व भगवन् भगदं स्वरूपम् ।
त्रैलोक्यमेतद् अखिलं तव पादमूले
आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित् ।।

– 'हे सखे ! तुम क्यों रो रहे हो? सारी शक्ति तुम्हीं में तो है। हे भगवन् ! अपना ऐश्वर्यमय स्वरूप अभिव्यक्त करो। ये तीनों लोक तुम्हारे पैरों के नीचे है। जड़ की कोई शक्ति नहीं – प्रबल शक्ति आत्मा की ही है।'

त्वयि सर्वशक्ति – तुममे ही सारी शक्ति विद्यमान है – यहाँ यही भाव महत्त्वपूर्ण है। **न एतत् त्वयि उपपद्यते** – यह तुम्हें शोभा नहीं देता – गीता का यह भाव उसी के समानार्थी है। आत्मस्वरूप का आधार छोड़कर केवल भौतिक आधार पर पौरुष प्राप्त होता है, इस बात पर स्वामी विवेकानन्द विश्वास नहीं करते थे। यह '**आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित्**' – इस पंक्ति से स्पष्ट होता है। साथ-ही-साथ हम कहीं यह समझने की भूल न कर बैठे कि स्वामीजी 'पौरुष' का यह भाव केवल हिन्दुओं में ही विकसित करना चाहते थे, क्योंकि उनमें अति प्राचीन काल से ही आत्मा की धारणा विकसित है। बल्कि संसार के विभिन्न स्थानों को देखने के बाद सच्चा पौरुष उन्हें केवल युरोपियनों में ही देखने को मिला। वे कहते हैं – ''पौरुष में – युरोपियन ! संसार में और कोई नहीं। मनुष्य की महिमा अँग्रेज जैसा कौन समझ सकता है।''[७]

श्रीरामकृष्ण के भक्तों को उन्होंने बताया कि पौरुष के बिना श्रद्धा तथा ईश्वर-निर्भरता आना असम्भव है। केवल एक उदाहरण, जिनमें इन गुणों का समावेश स्वामीजी ने देखा, वे थे – गिरीश चन्द्र घोष। वे कहते है, ''मित्र, व्यक्ति जब तक स्वयं वीर न हो, तब तक क्या कोई ईश्वर के प्रति विश्वास और समर्पण कर सकता है? मनुष्य जब तक वीर और महान् नहीं बनता, तब तक उसके हृदय का द्वेष और ईर्ष्या कैसे मिट सकती है? और जब तक हृदय में द्वेष और ईर्ष्या है, तब तक कोई यथार्थ में सभ्य कैसे बन सकता है? इस देश में वह कठोर पौरुष, वह वीरत्व और महानता की भावना ही कहाँ है? कहीं भी नहीं। मेरी आँखें उसे ढूँढ़ती रहती हैं – और अब तक मुझे उसका एक ही उदाहरण दिख पाया। केवल गिरीश बाबू में सच्ची आत्म-समर्पण की भावना, प्रभु के सेवक होने की सच्ची भावना दिखती है। और वे इस प्रकार आत्मत्याग के लिए सदैव तत्पर रहते थे, इसलिए क्या श्रीरामकृष्ण ने उनका सब भार अपने पर नही लिया? प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की कितनी अनन्य भावना है ! मुझे उनके समान दूसरा कोई नहीं दिखा और उन्हीं से मैंने आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ा है।''[८]

---

४. Swami Vivekananda in San Fransisco, Vedanta Society of Northern California, Pg- 33-34
५. विवेकानन्द साहित्य खण्ड ९, पृष्ठ-२२५
६. वही, खण्ड ३, पृष्ठ-३११-३१२
७. Sister Nivedita, The Master as I saw Him, , P. 145
८. विवेकानन्द साहित्य खण्ड ८, पृष्ठ-२४५

'सब कुछ' शब्द का महत्त्व

भारतीय तर्कशास्त्र में किसी भी सिद्धान्त के लिए जब अन्वय (सहमति) और व्यतिरेक (असहमति) – दोनों प्रस्तुत किया जाता है, तभी वह प्रमाण बनता है, जिसे कोई काट नहीं सकता। इसका सामान्य उदाहरण – **यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः**। इसमें अन्वय है : जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि भी अवश्य है और व्यतिरेकवाद है : जहाँ धुआँ नहीं है वहाँ अग्नि भी नहीं। यहाँ पर भी हम इसी तर्क का प्रयोग कर सकते हैं। 'पौरुष' की पुष्टि के लिए स्वामीजी यहाँ Everything शब्द का प्रयोग करते हैं। अर्थात् जहाँ जहाँ पौरुष है, वहाँ समस्त अच्छाइयाँ तथा महिमाएँ अपरिहार्य हैं। व्यतिरेकवाद में जहाँ पौरुष नहीं, व्यक्ति में कोई भी अच्छाई तथा शुभ और महिमामय नहीं होगा। इसका कारण स्वामीजी अन्यत्र देते हैं। यदि कोई व्यक्ति इस पौरुष को विकसित करने की ओर ध्यान नहीं देता, तो वह शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक दृष्टि से दुर्बल होता जाएगा। और उसे अधिकाधिक अध:पतन की ओर ले जाएगा, क्योंकि "वेदान्त कहता है – दुर्बलता ही संसार में समस्त दु:ख का कारण है, इसी से सारे दु:ख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसलिए इतना दु:ख भोगते हैं। दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी प्रकार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख में गिरते हैं।"[९] यहाँ पर इस वाद का व्यतिरेक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। कापुरुषता से मनुष्य का मन और हृदय दुर्बल हो जाता है और इससे उसकी हर तरह की दुर्दशा होती है! कुरुक्षेत्र में अर्जुन की यही अवस्था हुई थी। इतने पराक्रमी योद्धा होकर भी वे दुर्बलता को प्राप्त हुए थे और अर्थहीन बातें करने लगे थे। भगवान श्रीकृष्ण ने इस दुर्बलता को ठीक ठीक पहचाना और इस क्षत्रिय को मिथ्याचारी, कायर कहा। अन्वय पक्ष में उन क्रान्तिकारियों का उदाहरण देखेंगे, जिन्होंने अपनी पवित्र मातृभूमि भारत की आजादी के लिए अपना जीवन होम कर दिया। उनका आधार था – प्रचंड नैतिक बल व पौरुष। एक क्रान्तिकारी कानाई लाल दत्त, जिन्हें नरेन गोसाई नामक एक विश्वासघाती की हत्या के आरोप में फाँसी की सजा मिली थी, ने कारागार में भी अपना वजन सोलह पौंड बढ़ा लिया था। उनके सारे वक्तव्यों से सर्वोच्च कोटि का पौरुष व्यक्त हुआ करता था और वे केवल दो पुस्तकें ही पढ़ा करते थे – श्रीमद्-भगवद्-गीता और स्वामी विवेकानन्द का 'कर्मयोग'।[१०]

स्वामीजी स्वयं भी पौरुष के अद्भुत दृष्टान्त थे। कुछ उदाहरणों के साथ – इन पुरुषसिंह के कुछ प्रत्यक्षदर्शियों के वक्तव्य प्रस्तुत करके अब हम उपसंहार करेंगे। पेरिस में वे मि. फ्रांसिस लेगेट के अतिथि थे। जोसेफीन मैक्लाउड लिखती हैं – "मि. लेगेट का एक सन्देशवाहक था। वह स्वामीजी को 'माँ प्रिंस' (Mon Prince) कहकर सम्बोधित करता था। स्वामीजी कहते 'मैं राजा नहीं, मैं एक हिन्दू संन्यासी हूँ।' वह कहता, 'आप भले ही ऐसा कहें, पर मैं जानता हूँ, मैं राजाओं के साथ परिचित हूँ। कौन राजा है, मैं देखते ही समझ जाता हूँ।' स्वामीजी का गौरवपूर्ण व्यवहार देखकर सब चकित हो जाते थे। तथापि जब कोई कहता, 'स्वामीजी, आप कितने भव्य हैं!' तो वे कहते, "मैं नहीं, मेरी चाल।"[११] डिट्राएट की मेरी सी. फंकी नामक भाग्यशालिनी महिला को उनके सहस्र-द्वीपोद्यान मे हुए अमूल्य प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला था। वे स्वामीजी के व्यक्तित्व के अपने संस्मरण में लिखती हैं, "बन्धनों को काटनेवाली स्वामीजी की भव्य मूर्ति इकत्तीस साल बाद मेरे मन:चक्षुओ में सजीव है। दुधारी खड्ग लिए, मूर्तिमान अग्नि तथा ज्वालायुक्त पुरुषोत्तम ने पूर्व की ओर से आगमन किया। कुछ लोगों ने उनका स्वागत किया और उन्हें उन्होंने दिव्य शक्ति प्रदान की।"[१२] अब हम स्वामी अतुलानन्द की कलम से एक अद्भुत वर्णन देखते हैं, "परन्तु जब कुछ ही क्षणों के लिए स्वामीजी को मंच पर लोगों से घिरा हुआ देखा, तो मेरे मन में यह बात कौंध उठी – 'विलक्षण महानता! अपार सामर्थ्य! कैसा पौरुष! अद्भुत व्यक्तित्व! उनके पास खड़ा प्रत्येक व्यक्ति उनकी तुलना में कितना नगण्य है!' मुझे स्मरण हो आया कि भगवान बुद्ध को कहते थे – 'पुरुषसिंह'। मुझे लगा स्वामीजी अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं। चाहे तो इस पृथ्वी को तथा स्वर्ग को भी हिला सकते हैं। उनके सम्बन्ध में यही मेरी पक्की और सर्वाधिक चिरस्थायी धारणा है।"[१३] ❑❑❑

अनमोल उक्तियाँ

* विश्वास! विश्वास! विश्वास! सब कुछ उसी पर ही निर्भर करता है। मान लेने को विश्वास नहीं कहते, विश्वास तो मानो प्रत्यक्ष देखना है।

* जो सरल कार्य है उसे कठिन मानकर करो और जो कठिन है उसे सरल मानकर करो।

* ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका स्वधर्म उसके साथ जन्म न लेता हो।

९. वही, खण्ड-२, पृष्ठ-१८६

१०. Udbodhan, Bhadra, 1393 (b) Srimad Bhagavadgita O Biplabi Kanailal Dutta

११. The life of JosePhine Macleod by Pravrajika Prabudhaprana, p. 18

१२. Reminiscences of Swami Vivekananda (Third Edition, May, 1983) P. 257

१३. With the Swamis in America and India, p. 60

प्रार्थना

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

प्रस्तावना

परमात्मा की प्राप्ति के लिए शास्त्रों और सन्तों ने साधकों की रुचि, संस्कार और अधिकारी-भेद से विभिन्न मार्गों का निर्देश दिया है, जिससे साधक स्वभावानुसार स्वानुकूल पथ पर अग्रसर होते हुए अन्त में अपने प्राणप्रिय परमात्मा को प्राप्त कर मानव-जीवन को सफल कर सके। उन ऋषियों द्वारा प्रदर्शित मार्गों में से प्रमुख हैं – राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इसमें श्रीरामकृष्ण के अनुसार 'भक्तियोग' कलियुग के लिए सरल एवं सहज है। वे कहते हैं, "कलियुग में उपाय है भक्तियोग – भगवान का नाम-गुण-गान और प्रार्थना।"[१] भक्तियोग में प्रार्थना का बड़ा ही महत्व है। मानो प्रार्थना ही भक्तियोग की आत्मा है। यदि भक्तियोग को प्रार्थना-योग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रार्थना की महिमा

ईश्वरावतार भगवान श्रीरामकृष्ण ने साधक-जीवन में प्रार्थना को अधिक महत्व दिया है। उनकी ईश्वरीय निष्ठा की अभिव्यक्ति अधिकांशत: भक्ति-संगीत एवं प्रार्थना के रूप में दृष्टिगोचर होती है। उनका जीवन प्रार्थनामय था। प्रार्थना के वैशिष्ट्य को समझाते हुए एक दिन उन्होंने शशधर पण्डित से कहा – "प्रार्थना करो, वे दयामय हैं। क्या वे भक्त की बात नहीं सुनेंगे? वे कल्पतरु हैं। उनके पास पहुँचकर जो जो कुछ प्रार्थना करेगा, वह वही पायेगा।"[२]

एक दिन गंगाधर ध्यान करके लौटे, तब श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "ध्यान एवं प्रार्थना करते करते तेरी आँखों में पानी आया था क्या? गंगाधर ने उत्तर दिया, "आया था।" ठाकुर प्रसन्न होकर बोले, "प्रार्थना कैसे करनी चाहिए जानता है?" और छोटे बच्चे के समान हाथ-पैर पटकते तथा जोर से रोते हुए कहने लगे – "माँ, मुझे ज्ञान दे, भक्ति दे। मैं और कुछ भी नहीं चाहता माँ! मैं तुम्हें छोड़कर नहीं रह सकता माँ!"[३]

प्रार्थना हृदय वीणा की वह ध्वनि है, वह स्वर है, जो सुव्यवस्थित, सुनियन्त्रित और समात्रिक संचालित होने पर उसमें से विभिन्न राग-रागिनियाँ, स्वर लहरियाँ, और गीत निकलते हैं। प्रार्थना संगीत है। जिस प्रकार गीत से गायक और श्रोता दोनों ही आनन्द की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार प्रार्थना प्रार्थी के हृदय को स्वच्छ, निर्मल कर उसके अन्त:करण में स्थित ईश्वर से संयोग स्थापित करके, उसके चित्त को ज्ञानालोक से प्रकाशित तो करती ही है, साथ ही बाहरी जगत् में विराट् रूप में अभिव्यक्त परमात्मा के साथ भी उसे संयुक्त करती है। सच्चे भक्त की प्रार्थना समस्त जगत् के साथ एकाकार होकर सर्वत्र प्रशान्ति एवं आनन्द का विकीरण करती है। शुद्ध हृदय द्वारा की गई प्रार्थना से साधक ईश्वर के चैतन्यमय, प्रकाशमय, आनन्दमय, करुणामय स्वरूप का बोध करता है। सच्चे हृदय से व्याकुल होकर की गई प्रार्थना, परमात्मा से शीघ्र ही साक्षात्कार करा देती है।

प्रार्थना की शक्ति अमोघ है। प्रार्थना की संगीत मधुमय एवं मुग्धकारी है। आवश्यकता है हृदय को शुद्ध कर इस वीणा की तन्त्रिकाओं को, तारों को, सावधानी पूर्वक सप्रेम, सुव्यवस्थित एवं संयमित रूप से संचालित करने की। इससे नि:सृत गान के द्वारा ईश्वर से, अपने प्रियतम प्रभु से सम्बन्ध स्थापित करने की, उनसे तादात्म्य होने की, उनमें तन्मय होकर उनके साथ रमण करने की, ईश्वर के साथ क्रीड़ा कर जीवन को आनन्दमय बनाने की, इस मानव जीवन को सफल और सार्थक करने की।

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, "सभी के भीतर वे परमात्मा विद्यमान हैं। परन्तु व्याकुल होकर प्रार्थना करनी होगी। कहावत है – तीन प्रकार के प्रेम का आकर्षण एक साथ होने पर ईश्वर का दर्शन होता है – सन्तान पर माता का प्रेम, सती स्त्री का स्वामी पर प्रेम और विषयी जीवों का विषय पर प्रेम।"[४] मास्टर महाशय को श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "व्याकुल होकर प्रार्थना करनी पड़ती है। आन्तरिक होने पर वे अवश्य सुनेंगे।"[५] मणि को भी उन्होंने कहा था, "व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करने पर, उनके नाम-गुण का सदा कीर्तन करने पर क्रमश: उन पर वैसे प्यार हो जाता है।"[६]

नवद्वीप गोस्वामी से श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "अब केवल हार्दिक प्रार्थना करो कि हे ईश्वर, तुम्हारी इस भुवनमोहिनी माया के ऐश्वर्य को मैं नहीं चाहता, मैं तुम्हें चाहता हूँ।"[७]

प्रार्थना की शक्ति अचूक है। वह कभी निष्फल नहीं होती। प्रार्थना से ही भक्तों ने भगवान के दर्शन किए हैं। उनके सच्चिदानन्दमय सत्ता की अनुभूति की है। देवताओं, ऋषियों की प्रार्थना से, भक्तों के करुण-क्रन्दन से, उनकी आर्त्त पुकार से, निर्गुण-निराकार परमात्मा भी सगुण-साकार होकर – राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, चैतन्य, ईसा, रामकृष्ण आदि विभिन्न रूपों में इस धराधाम पर आविर्भूत होता है।

प्रार्थना से हृदय-समुद्र का भक्ति-वारि वाष्प बनकर उर्ध्व सहस्रार-गगन में उड़ता है और प्रार्थी को सहस्रारस्थ परमात्म-अमृत का आस्वादन कराता है। भक्तों के द्वारा हार्दिक व्याकुलतापूर्वक की गई प्रार्थना से परमात्मा इस पृथ्वी पर आविर्भूत होकर अवतार रूपी जलधर बनकर, बादल के रूप

में समग्र संसार में वर्षित होकर, सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करता है, मंगल करता है।

प्रार्थना से कुंडलिनी-देवी जाग्रत होकर अपने प्रेमास्पद प्रभु से मिलने हेतु ऊर्ध्वस्थ सहस्रार की ओर व्यग्र होकर गमन करने लगती है। प्रार्थना रूपी सूर्य से हृदयस्थ ज्ञान-उत्पल प्रस्फुटित हो उठता है। प्रार्थना रूपी चन्द्रमा से उरवासी नलिनी, कमलिनी खिल उठती है, एवं प्रार्थी के हृदय में स्निग्धता एवं शीतलता प्रदान करती है।

भक्त की प्रभु-प्रार्थना जन्म-जन्मान्तरों के संचित हिमचट्टानवत् संस्कारों एवं संचित कर्मों को पिघला देती है और साधक के चित्त में अपने इष्ट के प्रति, परमात्मा के प्रति भक्ति-प्रेम का उद्रेक करती है। उसके संतप्त चित्त के मरुस्थल में स्निग्ध, शीतल वारि को प्रवाहित कर, उसे शान्ति प्रदान करती है। प्रार्थना से हृदय का क्षीण आवृत अखण्डदीप अनावृत होकर हृदय को आलोकमय करता है। प्रार्थना से चित्त-चकोरी अपने हृदय का स्वर्णवत् सिंहासन स्वच्छ एवं पवित्र कर, उस पर विराजमान होने के लिए अपने चकोर परमात्मा से याचना करती है। उस पर प्रभु को आसीन करती है तथा उनसे सान्निध्य स्थापित कर लेती है।

श्रीरामकृष्ण देव के एक अन्तरंग संन्यासी शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज प्रार्थना को सभी प्रश्नों का समाधान बताते हुए कहते हैं – "व्याकुल हृदय से उनके निकट प्रार्थना करो, वे सभी प्रश्नों की मीमांसा कर देंगे।"[८] वे लौकिक व जागतिक प्रलोभन रूपी व्याधि से मुक्ति के लिए प्रार्थना को एक महा-औषधि मानते हैं। एक सज्जन को पत्र में वे लिखते हैं – "संसार में बहुत-से प्रलोभन है, किन्तु जो आन्तरिक हृदय से कातर हो श्रीहरि-चरणों का स्मरण एवं प्रार्थना करता है, वह अनायास ही उन सब प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है।"[९] वे प्रार्थना-पद्धति का दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं – "भगवान को पुकारना और कहना – 'हे भगवान, ये सूर्य, ये चन्द्र तुम्हारे हैं, यह सृष्टि तुम्हारी है। तुम दयामय, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी हो, तुम मेरे प्रति दयावान होओ, मुझे सद्बुद्धि दो, श्रद्धा दो, भक्ति दो।'[१०] "हे प्रभो! मुझे सद्बुद्धि दो, मुझे अपना बना लो। 'मैं'-'मेरा' यह भाव दूर कर दो। 'मैं'-'मेरा' कहते कहते बहुत धक्के खाए हैं। अब 'तुम'-'तुम्हारा' कहना सिखाओ।"[११]

प्रार्थना के सम्बन्ध में स्वामी विरजानन्द जी महाराज कहते हैं – "प्रार्थना कहलाती है, अपने अन्तर्यामी के निकट अपने अन्तर की वेदना और अभाव को, भाव या भाषा के जरिये ज्ञापन करना, और उसे नष्ट करने के लिए कातरतापूर्वक उनकी कृपा-याचना करना।"[१२]

प्रार्थना के उद्देश्य को प्रतिपादित करते हुए गाँधी जी कहते हैं – "प्रार्थना का उद्देश्य हमारे अन्तरतम की गहराई में दिव्यता जाग्रत करना है।"

प्रार्थना-विषयक सन्त बिनोवा भावे के उद्गार भी चिन्तनीय एवं मननीय है – "प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का अद्भुत समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को स्थान नहीं है, इससे वह बावला है। प्रयत्नवाद में निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी है। परन्तु दैववाद की नम्रता एवं प्रयत्नवाद का पराक्रम, पुरुषार्थ दोनों ही आवश्यक हैं। प्रार्थना इसका मेल साधती है, प्रार्थना में दोनों का सामंजस्य होता है।"[१३]

प्रो. सत्यपाल शास्त्री जी कहते हैं – "प्रार्थना से सर्व-प्रथम अभिमान का नाश होकर 'आत्मा में आर्द्रता' आती है। इसमें विनय, कोमलता, सरलता, उदारता, ऋजुता, आर्जव आदि तत्त्वों का समावेश हो जाता है। अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण-ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना – ये सब प्रार्थना के फल हैं।"[१४]

श्रीमती उषा जी कहती हैं, "प्रार्थना ईश्वर के दरबार का प्रवेश-द्वार है। प्रार्थना पापी को पुण्यवान बनाती है, पुण्यवान को मांगल्य देती है। प्रार्थना द्वारा हम ईश्वर से सम्वाद करते हैं, उन्हें आत्मनिवेदन करते हैं। जिनके हृदय का तार ईश्वर के साथ जुड़ा रहता है, उनका पूरा जीवन प्रार्थनामय होता है। प्रार्थना से चित्त शुद्ध-तुष्ट-पुष्ट होता है। ऐसे निर्मल-निरामय

पुरखों की थाती

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः।
घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम्।।

– जैसे ऋतु आने पर अपने आप ही वृक्ष पर फूल खिल जाते हैं, वैसे ही पाप करनेवाले को समय आने पर उसका भयंकर फल अवश्य भोगना पड़ता है।

अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत्।
भवत्यखिल-जन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम्।।

– जिन लोगों का हृदय तृष्णा के ताप से जल रहा है, उनके लिए यह सारा जगत् ही दावानल के समान है। समस्य प्राणियों के अन्तर में जैसा होता है, वैसा ही बाहर भी बोध होता है।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।।

– अन्यायपूर्ण उपायों से कमाया हुआ धन केवल दस वर्ष तक ही घर में टिकता है, ग्यारहवें वर्ष वह समूल रूप से नष्ट हो जाता है।

चित्त में आत्मा प्रतिबिम्बित होती है तथा अन्त:सुख, अन्तराराम, अन्तर्ज्योति की अनुभूति कराती है।''[१५]

स्वामी जगदात्मानन्द जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जीने की कला' में प्रार्थना के प्रसंग में प्रेरणाप्रद दृष्टान्त एवं विचार प्रस्तुत किए हैं – ''प्रार्थना अक्षय आन्तरिक बल और ऊर्जा का स्रोत है। प्रार्थना से व्यक्ति की चेतना का कायाकल्प हो जाता है। वस्कुलर सर्जरी (नलिका-शल्यचिकित्सा) में अपने अग्रगण्य कार्यों के लिए नोबुल पुरस्कार-विजेता डॉ. अलेक्सिस कैरल का दृढ़ मत है कि प्रार्थना के माध्यम से कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति के इस स्रोत का दोहन कर सकता है। उनके ही शब्दों में, ''प्रार्थना किसी व्यक्ति द्वारा उत्पन्न की जा सकने वाली ऊर्जा का सर्वाधिक सशक्त रूप है। यह उतनी ही वास्तविक शक्ति है जितनी की पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति। एक चिकित्सक के तौर पर मैंने देखा है कि अन्य सभी प्रकार के उपचारों के विफल हो जाने पर लोग प्रार्थना के सौम्य प्रयास द्वारा रोग और निराशा से उबर सके हैं। प्रार्थना, रेडियम की भाँति, ज्योतिर्मय और स्वयंजनित ऊर्जा का एक स्रोत है। ... प्रार्थना करते समय हमारा सम्पर्कसूत्र ब्रह्माण्ड निर्मात्री प्रेरक शक्ति से जुड़ जाता है। उस अवस्था में कुछ याचना करने पर भी, हमारी त्रुटियों का परिष्कार हो जाता है और हम सबल और स्वस्थ हो जाते हैं। ... व्याकुल प्रार्थना के क्षणों में हम जब भी भगवान को पुकारते हैं, तब हमारी आत्मा और शरीर दोनों का ही कायाकल्प, रूपान्तरण हो जाता है।

''अहंकार के विनाश का सर्वाधिक सशक्त हथियार प्रार्थना है एक आध्यात्मिक साधक की यही प्रार्थना रहती है, ''हे प्रभु! मेरे अहंकार को विनष्ट करके स्वयं प्रकट होकर मेरे हृदय कमल में निवास कीजिए।'' यही प्रार्थना की पराकाष्ठा है। प्रार्थना की तीव्रता बढ़ने पर क्रमश: 'मैं'-'मेरा' भाव लुप्त होता जाता है। मन स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के स्तरों से ऊपर उठकर भगवान तक पहुँच जाता है। तदुपरान्त, हम अपने हृदय में भगवत्सान्निध्य का बोध करने लगते हैं।''[१६]

प्रार्थना कैसे करें?

वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिए उस अनन्त अखण्ड परमात्मा से प्रार्थना की थी – **असतो मा सद्गमय। तसमो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।** – हे प्रभु! तुम मझे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत, शाश्वत की ओर ले चलो। अद्वैतवादी शंकराचार्य के हृदय में भी माँ जगज्जननी के प्रति भक्ति का पारावार 'देव्यापराध-क्षमापन स्तोत्र' के रूप में उमड़ पड़ा। वे कहते हैं –

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो।
... परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेश हरणम्।

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे।
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

– 'माँ, मैं मन्त्र-तन्त्र, स्तुति-ध्यानादि कुछ भी नहीं जानता हूँ। हे जननि! पृथ्वी में तुम्हारे अनेकों योग्य पुत्र हैं, उनमें से मैं एक अयोग्यतम पुत्र हूँ। फिर भी हे शिवे! मेरा त्याग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि कुपुत्र जन्म ले सकता है, लेकिन माता कभी भी कुमाता नहीं होती।'

अन्त में अपने को पूर्णत: माँ के चरणों में समर्पित करते हुए आचार्यप्रवर कहते हैं – **मत्समः पातकी नास्ति, पापघ्नि त्वत् समा न हि। एवं ज्ञात्वा महादेवी यथायोग्यं तथा कुरु।** – माँ, मेरे जैसा पापी नहीं और तुम जैसी पापहारिणी नहीं है, अत: तुम्हें जो उचित प्रतीत हो वैसा करो। आचार्य जी भगवान शिव से कहते हैं – **सर्वमेतत् क्षमस्व जय जय करुणाब्धे ...** – हे करुणासिन्धु, तुम्हारी जय हो, मेरे समस्त पापों को क्षमा करो। भवान्यष्टकम् में वे कहते हैं –

न जानामि दानं न च ध्यानयोगं
न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमन्त्रम्।
न जानामि पूजां न च न्यासयोगं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानी॥

– हे माता! मैं दान, ध्यान और योग करना कुछ भी नहीं जानता हूँ। मैं तन्त्र, स्तोत्र-मन्त्र-जप आदि भी नहीं जानता हूँ। मुझे पूजा और न्यासादि अंगशुद्धि की क्रियाएँ भी ज्ञात नहीं हैं। अत: हे जगदम्बे! तुम ही मेरी एक मात्र गति हो, एक मात्र गति हो!

सन्त यामुनाचार्य जी ने अपने हृदय की वेदना को भगवान को अर्पित करते हुए कहा था –

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरसि गतिश्चासि जगताम्।
त्वदीयस्त्वद् भृत्यस्तवपरिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः॥१७

– तुम पिता हो, माता हो, पति हो और पुत्र भी तुम हो। तुम प्रिय सुहृद् हो, मित्र हो, गुरु हो और जगत् की गति भी तुम हो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा सेवक और परिजन हूँ। तुम ही मेरी गति हो, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ और हे प्रभो! मेरा भार भी तुम पर ही है।

चैतन्य महाप्रभु ने ईश्वर से अभ्यर्थना की –

न धनं न जनं न सुंदरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनिजन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥१८

– हे जगदीश! मै धन, जन, सुन्दरी अथवा कवित्व कुछ भी नहीं चाहता हूँ। मै केवल यही चाहता हूँ कि जन्म- जन्म में

मेरी आपके प्रति पूर्ण अहैतुकी भक्ति हो।

भगवान श्रीराम के अनुज श्रीभरतजी ने तीर्थराज प्रयाग में मानो त्रिवेणी संगम गंगा-यमुना-सरस्वती को साक्षी करके व्याकुल चित्त से प्रार्थना की –

अरथ न धरम न कामरुचि गति न चहऊँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन।।[१९]

– हे तीर्थराज जी! मैं मानव जीवन के प्रथित पुरुषार्थ – अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष – इन चारों को ही नहीं चाहता। मैं जितनी बार भी जन्म लूँ, प्रत्येक जन्म में मुझे श्रीरामचन्द्र जी के चरण कमलों में ही भक्ति हो, यही वरदान दीजिए, अन्य कोई भी वरदान मुझे नहीं चाहिए।

शरभंग ऋषि ने भगवान श्रीराम जी के सम्मुख ही देह-त्याग करते समय आन्तरिकता से निवेदन किया –

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम।।[२०]

ऋषिश्रेष्ठ सरलचित्त सुतीक्ष्ण जी ने भी अपने निश्छल अन्त:करण से भगवान श्रीराम से प्रार्थना की थी –

जदपि बिरज व्यापक अबिनासी।
सब के हृदयँ निरंतर वासी।।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी।
बसतु मनसि मम काननचारी।।
अस अभिमान जाइ नहीं भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम।।[२१]

– हे प्रभु, यद्यपि आप विमल, व्यापक, अविनाशी और सबके हृदय में निवास करने वाले हैं, तथापि हे नाथ, आप लक्ष्मण जी और श्रीसीताजी के साथ वन-विहारी रूप में ही हमारे हृदय में निवास कीजिए। हे स्वामी, मैं इस स्वाभिमान को कभी भी न भूलूँ कि 'मैं आपका सेवक हूँ और आप मेरे स्वामी हैं'। हे प्रभो श्रीरामचन्द्र जी, आप अपने अनुज लक्ष्मणजी और सीताजी सहित धनुष-वाण धारणकर निष्काम, निश्चल हो मेरे हृदय-गगन में चन्द्रमा सदृश निवास कीजिए।

प्रपन्न गीता में एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रार्थना है –

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

– हे देवेश! तुम्हीं मेरी माता और तुम्हीं मेरे पिता हो। तुम्हीं मेरे बन्धु और तुम्हीं मेरे मित्र भी हो। तुम्हीं हमारी विद्या एवं सम्पत्ति हो, हे प्रभु, तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो।

इसके अतिरिक्त भक्त को सदैव सम्पूर्ण विश्व के कल्याणार्थ प्रार्थना करनी चाहिए। क्योंकि यह जगत् परमात्मा द्वारा निर्मित है। उनकी ही लीला-भूमि एवं उनका लीला-विलास है। संसार के समस्त प्राणी उनकी ही सन्तान हैं और वे सबमें विद्यमान हैं। सन्त गोस्वामी तुलसी दास जी तो सकल संसार को ही सीयाराममय-बोध से प्रणाम करते हैं –

सीय राममय सब जग जानी।
करऊँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।
जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।[२२]

सर्वजनहिताय प्रार्थना से भक्त के हृदय में उदारता आती है तथा उस उदार हृदय में परमात्म-शक्ति का स्फुरण होता है। एक बहुश्रुत प्रार्थना है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

– हे सर्वप्रकाशक परमात्मा! संसार के सभी प्राणी सुखी हों, सभी शरीर-मन से स्वस्थ एवं शुद्ध हों तथा बुद्धि से दृढ़निश्चयी और संशयरहित हों, सभी विवेकी एवं ईश्वरपरायण हों, सबका जीवन शिवमय एवं मंगलमय हो। सभी ईश्वर को प्राप्त करें। संसार के किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कभी कोई कष्ट न हो।

प्रार्थना का परिणाम

जब भक्त के हृदय का आकुल क्रन्दन भगवान के मधुरमय नाम से संयुक्त होता है, तब उसमें विलक्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। भक्त की आन्तरिक पुकार से ईश्वर स्वयं दौड़े चले आते हैं। शिव कैलास छोड़कर, विष्णु वैकुण्ठ और स्वप्रिया-भार्या लक्ष्मी का त्यागकर इस मरणशील दु:खमय धराधाम में दौड़कर आते हैं एवं अपने भक्तों के त्रितापदग्ध चित्त की व्यथा का उपशमन कर, उसे आनन्द प्रदान करते हैं।

ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना से भगवान ने नर-शरीर धारण कर वानर-भालुओं के साथ वर्षों जीवन-यापन किया और उन्हें दानवों से मुक्ति दिलाई। बालक ध्रुव की सरल हृदय से की गई प्रार्थना ने भगवान के हृदय को द्रवित कर दिया और उन्होंने आकर अपने प्रिय शिशु के मनोरथ को पूर्ण किया। प्रहलाद की पुकार पर भगवान खम्भे के भीतर से प्रकट होते हैं एवं स्व घट-घट में व्यापकता की पुष्टि कर अपने भक्त की रक्षा करते हैं। माँ देवकी और पिता वसुदेव की पुकार पर वे जेल में आविर्भूत होते हैं एवं कंस-वध कर माता-पिता और सारी प्रजा को कंस के अत्याचारों से मुक्त करते हैं। अदिति और सतरूपा की निष्कपट प्रार्थना से भगवान उनके घर पुत्र रूप में जन्मग्रहण कर उन्हें धन्य करते हैं। अत: भगवान की कृपा को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना एक सशक्त साधन है।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "कृपा होने से ईश्वर के दर्शन

होते हैं। प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवन्, एक बार कृपा करके आप अपना ज्ञानालोक अपने श्रीमुख पर धारण कीजिए, मैं आपका दर्शन करूँगा।''[२३] ''व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करो जिससे उनके मन में रुचि हो। वे ही तुम्हारा कल्याण करेंगे।''[२४] ''ज्ञान सभी को हो सकता है। प्रार्थना करो, उस परमात्मा के साथ सभी जीवों का योग हो सकता है।''[२५]

प्रार्थना सकाम हो या निष्काम वह ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित अवश्य कराती है। यदि हम पूर्णत: निष्काम प्रार्थना करने में अक्षम हैं, तो अपनी सकाम प्रार्थना द्वारा ही सरल, निष्कपट हृदय से अपने प्रभु को पुकारें, वे अवश्य कृपा करेंगे। जब एकबार भगवान से संबंध, उनका दर्शन जिस किसी तरह से भी हो जाएगा, तब उनके शीतल स्पर्श से, उनके तेजपुंज की प्रभा से, उनके कोमल प्यार से भक्त के हृदय की समस्त कामनाएँ स्वयं ही चली जायेंगी। उस भक्त के अन्दर दिव्य ईश्वरीय गुणों का प्रादूर्भाव होगा और वह पूर्णत: प्रभुपदाश्रित हो उनके ईश्वरत्व में विलीन हो जायेगा। उनके परमपद को प्राप्त करेगा। उनके परम शान्तिमय धाम की उपलब्धि करेगा।
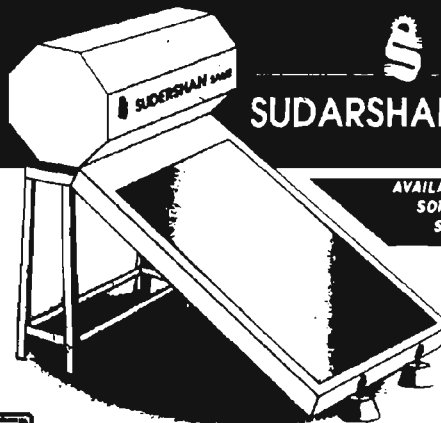
प्रार्थना सभी योगों – राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग से सरल है। प्रार्थना सभी प्रकार के साधकों के लिए सरल, सहज एवं स्वाभाविक है। मनुष्य का स्वभाव है सर्वदा कुछ माँगना, कुछ ग्रहण करना। किसी को कुछ देने का स्वभाव कम है। विशेषत: ईश्वर को कुछ देने का तो इसे अभ्यास ही नहीं है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – **पत्रं पुष्पं ..** । अर्थात् कुछ भी थोड़ा देना सीखो। पत्ता, पुष्प आदि ही दो। इसमें कोई धन व्यय नहीं होता। कुछ भी तो दो। अत: निष्कपट भाव से अपनी हार्दिक वेदना ईश्वर को निवेदित करें एवं यदि कुछ माँगना ही है तो ईश्वर से ईश्वर को ही माँग लें। प्रभु से उनकी याचना कर उन्हीं को प्राप्त कर लें। परमात्मा से परमात्मा को ही माँग लें। भगवान बड़े कृपालु हैं, वे दीनबन्धु दया के सागर हैं, वे अपने भक्तों के लिए पुत्र, मित्र, भृत्य, कुछ भी बनकर, किसी भी रूप में चले आते हैं। उन्होंने प्रह्लाद की रक्षा के लिए नृसिंहावतार लिया। वे श्रीकृष्ण के रूप में देवकी-वसुदेव और प्रजा की रक्षार्थ जेल में अवतरित हुए और ग्वाल-बालों के साथ गायों को चराया। पांडवों के लिए वन-वन घूमते रहे और उनकी विपत्ति में, यहाँ तक की युद्ध में भी सर्वदा उनके साथ रहे। रावण-वध हेतु राम के रूप में जंगलों की खाक छानते रहे। कवि विद्यापति के साथ भगवान शंकर भृत्य के रूप में साथ में रहे। असंख्य भक्तों को भगवान ने अपना दर्शन देकर विभिन्न प्रकार से उसकी सहायता की है और कर रहे हैं। अनन्तमय ईश्वर की महिमा असीम है। अत: भगवान की प्राप्ति के लिए, भगवान की कृपाप्राप्ति हेतु भगवान से निश्छल आकूल प्रार्थना के द्वारा उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करें। इस प्रकार भगवान से उनके कल्पतरु चरणकमलों की ही याचना कर, उनसे संयुक्त होकर उनके साथ ही क्रीड़ा करें, उनमें रमण करें, उनके संग में विहार करें और आनन्द करें। उनके सद्‌गुणों को, उनके सात्त्विक दैवी गुणों को, उनके परमात्मभाव को, अपने में आत्मसात् कर जीवन को धन्य करें, अपने मानव-जन्म को कृतार्थ करें। अपने जीवन को मंगलमय, मधुमय, शुभमय, शिवमय, प्रेममय, सत्-चित्-आनन्दमय करें। ❑❑❑

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत भाग-१, पृष्ठ ९३ २. वही, पृष्ठ ५५१
३. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, पृष्ठ २९ ४. वचनामृत, १/२३४
५. वही, पृष्ठ-२५२ ६. वही, पृष्ठ ३७५-३७६
७. वही, पृष्ठ-२५० ८. ध्यान धर्म तथा साधना, पृष्ठ १५७
९. वही, पृष्ठ-१५१ १०. वही, पृष्ठ १२९
११. वही, पृष्ठ-१०२ १२. परमार्थ प्रसंग, पृष्ठ १२९
१३. केन्द्र-भारती, अक्टूबर २००२, पृ १०
१४. आर्यमित्र, २५ सितम्बर २००२, पृष्ठ ८
१५. मैत्री, दिसम्बर २००२, पृष्ठ ३३१-३३२
१६. लर्न टू लीभ, स्वामी जगदात्मानन्द, भाग-२, अध्याय-५
१७. स्तोत्ररत्न - ५० १८. शिक्षाष्टकम् - ४
१९. श्रीरामचरितमानस, २/२०४ २०. वही, ३/८
२१. वही, ३/११/८, ९, ११ २२. वही १/७ग/ १
२३. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग-१, पृष्ठ १३१
२४. वही, पृष्ठ-१७८ २५. वही, पृष्ठ १८०